ISSN 2454-6879

अंक 17, मई-जून 2018

देस हरियाणा

912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र, (हरियाणा)-136118

संपर्क - व्यवस्था - 99913-78352

संपादकीय - 94164-82156

ई-मेल : haryanades@gmail.com

www.desharyana.in

facebook.com/desharyana

youtube.com//desharyana

सहयोग राशि

व्यक्तिगत:	3 वर्ष 500/, 1 वर्ष 200/-
संस्था:	3 वर्ष 1000/-, 1 वर्ष 400/-
आजीवन:	5000/- संरक्षक :10000/-

ऑनलाईन भुगतान के लिए

देस हरियाणा, इलाहाबाद बैंक कुरुक्षेत्र

बैंक खाता संख्या - 50297128780,

IFSC: ALLA0211940

इबकी बार

स्वामी-प्रकाशक-सम्पादक-मुद्रक सुभाष चंद्र द्वारा 912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र हरियाणा से प्रकाशित

वास्तविक रचनाकार दूर खड़ा तमाशा नहीं देख रहा

कभी दरों से कभी खिड़कियों से बोलेंगे
सड़क पे रोकोगे तो हम घरों से बोलेंगे
कटी ज़बाँ तो इशारे करेंगे आँखों से
जो सर कटे तो हम अपनी धड़ों से बोलेंगे

दिनेश हरमन

जबकि कठुआ, उन्नाव, सासाराम, सूरत, नोएडा, एटा व देश के अनेक हिस्सों से सामूहिक बलात्कार व नृशंस हत्या की खबरें ही अखबारों की सुर्खियों और टेलीविजन की स्क्रीन पर घूमती हों तो दिलो-दिमाग में बेचैनी व दहशत पैदा होना अस्वाभाविक नहीं है। छोटी बच्चियों के साथ यौन-हिंसा की दरिंदगीपूर्ण घटनाओं से समस्त मानवीय समाज गहरे सदमे में है। जम्मू के कठुआ व उत्तरप्रदेश के उन्नाव सामूहिक बलात्कार व जघन्य हत्या में सत्तासीन लोगों ने पीड़ित पक्ष के साथ सहानुभूति व संवेदना प्रकट करने और न्याय के पक्ष में खड़े होने की बजाय बलात्कारियों व हत्यारों के अपराध पर मिट्टी डालने व उनको संरक्षण देने की तमाम हदें पार की हैं। पीड़ित पक्ष के प्रति उभरी जन-संवेदना को कुंद करने के लिए बलात्कार का साम्प्रदायिकरण करने की धूर्ततापूर्ण कोशिशें की गई। सत्ता-केन्द्रों का यह रवैया उसकी संवेदनशून्यता व अमानवीयता को उजागर करता है। सत्ता की असीम ताकत के समक्ष आम आदमी स्वयं को अकेला और लाचार महसूस करता है। लेकिन इस मामले में नागरिक समाज ने न्याय के पक्ष में निडरता से आवाज उठाई जिसकारण सत्ता के मद में चूर लोंगों को मुंह की खानी पड़ी है उससे एक आशा जरूर बंधती है।

पिछले डेढ-दो सौ सालों में भारतीय समाज ने धार्मिक-विद्वेष और साम्प्रदायिकता जनित त्रासदियों को भुगता है। शासन-सत्ताओं ने साम्प्रदायिकता को अपने रक्षा-कवच की तरह से प्रयोग किया है। भारतीय समाज की विडंबना ही है कि अत्यधिक तकनीकी युग में भी शासन-सत्ताओं के लिए जन-आक्रोश की दिशा भ्रमित करने के लिए साम्प्रदायिकता तुरप का पत्ता साबित हो रहा है। शासन-सत्ताएं साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण करने का हर हथकण्डा अपना रही हैं। गुड़गांव में नमाज अता करते लोगों पर हमला करना, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में 80 साल से दीवार पर टंगे मोहम्मद अली जिन्ना के चित्र पर बवाल काटना साम्प्रदायिक विभाजन की परियोजना के अंग ही तो हैं। सामूहिक चेतना का साम्प्रदायिकरण भारतीय समाज के बहुलतावादी ढांचे, सामाजिक शांति, साम्प्रदायिक भाईचारे और आपसी विश्वास को बरबाद कर देगा। सांस्कृतिक-धार्मिक बहुलता व विविधता भारतीय समाज का

गहना है। हर वर्ग, समुदाय की सुरक्षा से ही भारत का धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र बना रह सकता है।

साम्प्रदायिकता एक व्यक्ति या नागरिक को भीड़ में तबदील करने और उसके विवेक को समाप्त करने का अचूक नुस्खा बन गई है। सोशल मीडिया व संचार के अन्य साधनों के जरिये समुदायों में नफरत के बीज बोए जा रहे हैं। इसके नतीजे भी सामने हैं कि ठठ के ठठ नवयुवक भीड़ में तबदील हो रहे हैं।

दलित वर्ग सदियों से भेदभाव व अपमान का दंश झेलते हुए असुरक्षा के माहौल में रह रहा है। भारत का संविधान सब नागरिकों को समान अधिकार जरूर देता है, लेकिन यह भी सत्य है कि धरातल पर जाति के आधार पर दलित वर्ग सामाजिक उत्पीड़न व संस्थागत भेदभाव का शिकार है। इस उत्पीड़न व भेदभाव को रोकने के लिए 1989 में एससी-एसटी अत्याचार निरोधक कानून बनाया था, जिसके सकारात्मक परिणाम नजर भी आ रहे थे और वंचित-उपेक्षित वर्ग स्वयं को सुरक्षित महसूस करता था।

पिछले दिनों सर्वोच्च न्यायालय ने एससी एसटी एक्ट के प्रावधान में बदलाव करके उसे कमजोर कर दिया। जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप दलितों ने 2 अप्रैल को भारत बंद के आह्वान में स्वतःस्फूर्त ढंग से भारी संख्या में हिस्सा लिया। इतनी अधिक संख्या में भागीदारी सामाजिक-उत्पीड़न और शोषण से मुक्ति की आकांक्षा का प्रदर्शन है।।

व्यापक जन समूहों में महसूस ये किया जा रहा है कि स्वतंत्रता-आंदोलन के संघर्षों के दौरान उन्होंने जो अधिकार व मूल्य प्राप्त किए थे, शासन-सत्ता विभिन्न उपक्रमों के जरिये उनको वापस छीन रही है। राजनेताओं-मंत्रियों और सरकारों के शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार व जीवन-सुरक्षा प्रदान करने के समस्त वायदे मृग-मरीचिका साबित हो रहे हैं। जहां मेहनतकश की थाली में निवाला नहीं है, वहीं लूट की छूट के कारण धन्नासेठों-कार्पोरेटों के पास दौलत के अंबार लग गए हैं। जहां शासन-सत्ता और कानून के शिंकजे की जकड़ गरीब का गला घोंट रही है वहीं माल्याओं-मोदियों जैसे धन-पशुओं के लिए लाल-गलीचे का इंतजाम है।

संवैधानिक संस्थाओं पर लगातार कुठाराघात करके कमजोर किया जा रहा है। समस्त संवैधानिक संस्थाओं के सार-तत्त्व को समाप्त किया जा रहा है। योजना-आयोग, भारतीय रिजर्व बैंक, चुनाव आयोग, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का हाल किसी जागरूक नागरिक छिपा नहीं है। राज्यपाल जैसे गरिमामयी पदों पर विराजमान गणमान्य अपने तुच्छ राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए निरंतर इस पद की मिट्टी पलीद करवा रहे हैं। शासन-सत्ताओं द्वारा तमाम संवैधानिक संस्थाओं के लोकतांत्रिक व जनपक्षीय चरित्र को खतम करके बड़ी बेशर्मी से कार्पोरेट-धन्नासेठों की चाकरी के अनुकूल बनाया जा रहा है। शासन के उच्च पदों पर बैठे लोगों द्वारा वैज्ञानिक सोच-चेतना व सत्य की स्थापना के संविधान के संकल्प के विपरीत अंधविश्वास-पाखंड-अतार्किकता व झूठों-भ्रमों को संस्थागत तरीके से बढ़ावा दिया जा रहा है।

कबीर, नानक, रैदास, बुल्लेशाह, टैगोर, निराला, प्रेमचंद, नजरुल, फैज अहमद फैज, मुक्तिबोध, लाल सिंह दिल, पाश जैसे रचनाकारों की परंपरा तो यही बताती है कि जब-जब मानवता पर संकट छाया है तो रचनाकार दूर खड़े होकर तमाशा नहीं देखता रहा है, बल्कि उसने अपनी कलम और नैतिक साहस के साथ संघर्षशील जनता की आवाज में आवाज मिलाई है। नए-नए शिल्पों में जनता की आकांक्षाओं को गढ़कर अपना दायित्व निभाया है।

'देस हरियाणा' पत्रिका के बैनर तले हुए 'हरियाणा सृजन उत्सव' और अन्य साहित्यिक कार्यक्रमों के अनुभव के आधार पर हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हमारे दौर के वास्तविक रचनाकार-कलाकार-रंगकर्मी-संस्कृतिकर्मी जनता को निराश नहीं कर रहे। इस घड़ी में वे जनता के दुःख-दर्दों को, पीड़ाओं को, संघर्षों को, आकांक्षाओं को, उपलब्धियों को वाणी दे रहे हैं। वे उन टुकड़खोरों की उस पांत में शामिल नहीं हैं जो सत्ता के कदमों में सिर झुकाए और हाथ पसारे खड़े हैं।

'देस हरियाणा' पत्रिका की और से 23-24-25 फरवरी 2018 को कुरुक्षेत्र में 'हरियाणा सृजन उत्सव' का आयोजन किया गया था जिसमें हरियाणा व देश भर के जाने माने साहित्यकारों, कलाकारों, संपादकों व पत्रकारों ने विभिन्न विषयों पर चर्चा की।

इन परिचर्चाओं का लब्बोलुबाब ये था कि बदलाव की पक्षधर सामाजिक शक्तियों को शहीद भगत सिंह और डॉ. भीमराव अंबेडकर की दलित मुक्ति एवं जातिमुक्त समाज के निर्माण की क्रांतिकारी वैचारिक विरासत को आत्मसात करते हुए आगे बढ़ाना होगा।

यह अंक 'हरियाणा सृजन उत्सव' के दौरान विभिन्न विषयों पर परिचर्चाओं और वक्तव्यों का दस्तावेजीकरण है। आपकी प्रतिक्रियाएं हमारा हौंसला बढ़ाएंगी।

सुभाष चंद्र

मातम

□ डा. पूरन सिंह

तब लगभग सभी के घरों में कच्चे चमड़े का काम होता था। लोग कच्चे चमड़े के जूते बनाते थे। कुछ लोग मरे हुए जानवरों की खाल उतारते थे और उन्हें उस घर से जहां वह जानवर मरा होता था वहां से खींचकर पीछे वाले खेतों में लाते थे। कितने ही लोग तो मरे हुए जानवरों की खाल को पकाते भी थे फिर उससे कच्चा चमड़ा बनाया जाता था। ऐसे लोगों को आप आसानी से पहचान सकते थे क्योंकि इनके नाखून हमेशा लाल होते थे। इन लोगों के पास धन-सम्पदा की कमी नहीं होती थी। इनकी औरतों पर सोने, चांदी के आभूषण भी होते थे जिन्हें वे तीज त्यौहारों पर पहनती थीं। कुछ ऐसे भी थे जो जितना कमाते थे उससे कहीं ज्यादा दारू में खर्च करते थे या फिर चोरी छिपे जुआ खेलते थे या सट्टा लगाते थे। कभी-कभी पुलिस भी पकड़कर ले जाती थी उन्हें और उनकी कमाई का काफी हिस्सा लेकर ही छोड़ती थी।

मेरे पिताजी तथा बहुत कम लोग ही थे जो इस काम को नहीं करते थे। वे लोग मजदूरी करते, मेहनत करके कमाते, खाई खोदते, ईंटें पाथते, लोगों के घरों में तीज-त्यौहार या फिर शादी-ब्याह पर रंग-रोगन करते थे। इन लोगों को समाज के अन्य लोग अच्छा नहीं मानते थे। इनके जीवन-यापन में विभिन्न तरह की बाधाएं पैदा करते थे। उन्हें नीचा दिखाने की तरकीबें ढूंढते थे। लेकिन ये लोग भी जिद्दी थे, 'चमड़े का काम या जानवरों की खिंचाई हम कतई नहीं करेंगे, चाहे प्राण रहें या जाये।'

होली-दीवाली या अन्य त्यौहारों पर भी हिन्दुओं के त्यौहारों की तरह ही उत्सव मनाए जाते थे। होली पर होलिका दहन होता था। खूब ऊंची होली रखी जाती थी जिस पर कई क्विंटल लकड़ियां स्वाहा हो जाती थीं। लोग एक दूसरे पर रंग डालते और खूब नाचते गाते। उस दिन खूब शराब पीते और आपस में लड़ते-झगड़ते थे। बाद में नशा उतरने पर गले में बाहें डाले घूमते भी दिखाई देते थे। अच्छे-अच्छे कपड़े बनवाए जाते थे जिन्हें पहनकर सभी लोग एक दूसरे के घर पर जाते और आपस में गले मिलते थे। बच्चे, बड़ों के पैर छूकर उनसे आशीर्वाद लेते।

आपस में खूब खुशियां मनाई जाती थीं।

दीवाली पर भी इसी तरह का उत्सव मनाया जाता था। खूब पटाखे चलाए जाते। दीपकों का यह उत्सव एक दूसरे को खुशियां बांटने से शुरू होकर रात में जुआ खेलने से ही समाप्त होता। दीवाली वाले दिन खूब अच्छा खाना पकाया जाता और लोग खूब शराब भी पीते थे। रात में महिलाएं अपने घरों से दीपक ले जाकर दूसरों के घरों में रखतीं और खील-बतासे बांटती थीं और इस तरह से खुशियों का आदान-प्रदान हुआ करता। बहुत अच्छा लगता था।

भगवान कृष्ण के जन्म दिन अर्थात् जन्माष्टमी पर लोग अपने-अपने घरों में भगवान कृष्ण की चित्रकारी करके दीवारों पर उनके चित्र बनाते। लड़कियां और महिलाएं व्रत रखतीं और दीवार पर बने भगवान कृष्ण के चित्र के मुंह पर भोग लगातीं। पूरे मोहल्ले में भगवान कृष्ण की झांकियां सजायी जाती थीं।

ये सब काम मेरे घर में भी होते थे। पिता दारू नहीं पीते थे। जुआ नहीं खेलते थे लेकिन घर में भगवान शंकर का फोटो था जो शीशे में जड़ा हुआ था। भगवान कृष्ण का फोटो भी था। फोटो में गाय माता थी और उनके साथ भगवान कृष्ण बांसुरी बजाते दिखाई देते थे। उसी चित्र पर लिखा था, 'गाय हमारी माता है यह देश धर्म का नाता है।'

घर में बच्चे पैदा होते तो पंडितजी के पास ही उनके नामकरण और छठी आदि के बारे में पूछने जाया जाता था। पण्डित जी का नाम जिन्ना था। मैं यह नहीं समझ पाता था कि पण्डित जी तो ब्राह्मण है फिर उनका नाम मुसलमानों के नाम पर जिन्ना क्यों रखा गया। खैर होगी कोई इसकी भी कहानी मुझे क्या लेना। जिन्ना ब्राह्मण होने के साथ -साथ सहृदय भी थे। हमारे मुहल्ले के लोग जब अपने बच्चों के नामकरण के लिए उनके पास जाते तो वे पहला सवाल यही पूछते थे, 'कौन जाति के हो।'

'साब जाटवान मुहल्ला में रहते हैं।'

'अच्छा।'

'बच्चा, लड़का हैं या लड़की।'

'लड़का'

'कौन से दिन पैदा हुआ।'

'दीवाली को।'

'तो ठीक हैं उसका नाम दिवारी लाल ठीक रहेगा।'

यदि बच्चा सोमवार को पैदा हुआ तो सोमा, मंगल को पैदा हुआ तो मंगली या फिर चैत में हुआ तो चैतुआ, भादों में हुआ तो भदई आदि नाम पण्डितजी रखते थे जिसे हमारे मुहल्ले के लोग सहर्ष स्वीकार कर लेते थे।

पण्डित जी का दिया हुआ नाम ही अंतिम होता था जिसे लोग अमृतवाणी समझ कर स्वीकार कर लेते। कुछ पढ़े-लिखे लोग थोड़ा

सा संशोधन भी कर लेते थे जैसे जिन्ना पण्डितजी ने किसी का नाम प्रकासी रख दिया तो वे उसे थोड़ा सा संशोधित करके प्रकाश कर देते थे।

फिर भी, जिन्ना पण्डितजी हमारी जाति के लोगों के नाम रखने में इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि वे नाम अपमानजनक और तिरस्कार से भरे हों ताकि आसानी से जाना जा सके कि वह व्यक्ति समाज में निचले पायदान पर हैं।

एक काम और भी होता था। लोग तीज-त्यौहारों पर हवन कराते थे। हवन करते समय लोगों पर देवी आ जाती। बड़ा मजा आता था। एक आदमी औरत की भाषा में भयानक तरह से बोलता। फिर दूसरा आदमी जो भगत टाइप का धूर्त और लुच्चा व्यक्ति होता वह देवी को शांत करता। उस अवसर पर शराब और बकरे का मीट चढ़ाया जाता था हवन-कुंड में।

मुहल्ले में एक ही जाति के लोग रहते थे। बड़े-बुजुर्ग बताते हैं कि पहले इस मुहल्ले का नाम चमट्टोला था। बाद में कुछ पढ़े-लिखे और समझदार लोगों ने इसका नाम बदलकर जाटवान कर दिया अर्थात् चमार का संशोधित रूप जाटवान। मैं जब पैदा हुआ तब इस मौहल्ले का नाम जाटवान था जिसे बाद में और परिष्कृत करके भीमनगर कर दिया गया। भीमनगर नाम महामानव बाबा साहेब अम्बेडकर के नाम पर रखा गया था जो आज तक चल रहा हैं।

मुहल्ले के साथ ही जुड़ा हुआ बाल्मीकियों का भी मुहल्ला था जिसे 'भंगियों का मुहल्ला' कहते थे बाद में उसका भी परिष्कृत रूप हुआ और उसे अब बाल्मकि बस्ती कहा जाने लगा। हालांकि उन्हें कहा भी था भीमनगर मुहल्ले के लोगों ने कि आप भी इसे बाल्मीकि बस्ती न कहकर भीमनगर ही कहें तो उनका तर्क था हम आपके बाबा साहेब अम्बेडकर को नहीं गांधी बाबा को मानते हैं और हमारे देवता भी बाल्मीकि जी ही हैं हम तो बाल्मीकि बस्ती ही कहलवाएंगे तुम भीमनगर कहो या जो भी तुम्हें अच्छा लगे।

बाल्मीकियों और जाटवों में छत्तीस का आंकड़ा था। हमेशा तलवार खिंची रहती लेकिन इस युद्ध को शांत करने में एक ही चीज बहुत ही सक्षम थी और वह थी शराब। मैं तो कहता हूं शराब, शराब न होकर अमृत थी, यदि अमृत जैसा कुछ होता हैं तो। बाल्मीकि और जाटव खूब लड़ते थे और बाद में साथ बैठकर शराब पीते फिर एक हो जाते थे।

बाल्मीकियों के घरों और जाटवों के घरों से ही सटी हुई एक और बस्ती थी मुसलमानों की और वैसे भी आप यदि गहनता से अध्ययन करेंगे तो जहां भंगी होगें वहीं चमार होंगे और उनके साथ ही मुसलमान भी होंगे। यह सवर्ण समाज की व्यवस्था हैं। यहां यह भी बताऊं कि मुसलमान वैसे तो चमारों-भंगियों से मेल रखते हैं लेकिन एक दो मसले ऐसे हैं जहां वे भी हमें भंगी और चमार ही समझते हैं ठीक वैसे ही जैसे ब्राह्मण और शेष हिन्दू समझते हैं। तब स्थिति सांप नाथ या नाग नाथ वाली हो जाती हैं। इन मुसलमानों और शहर के सभी मुसलमानों का एक कब्रिस्तान था जहां मृतक मुसलमानों की कब्रें थीं और इस कब्रिस्तान में पीरबाबा की मजार भी थी जो अब भी हैं। पीरबाबा की मजार को सभी लोग मीराजीबली की मजार कहते थे जहां बरसात के दिनों में मेला (उर्स) लगता था और कव्वालियों का कार्यक्रम भी होता था। आज भी होता हैं। हम लोग अपनी-अपनी कक्षाओं में पास होते तो अपनी-अपनी अर्थव्यवस्थानुसार वहां बतासे चढ़ाने जाते और किसी की नौकरी लगती तो चद्दर चढ़ाई जाती थी। विश्वास और आस्था यह थी कि मीराजीबली की दुआओं से ही नौकरी मिली हैं। मेरी नौकरी लगने पर भी अम्मा ने चद्दर चढ़ाई थी।

इसी कब्रिस्तान से लगी हुई एक जगह और हैं जो हमारे मुहल्ले के बुजुर्गों ने बनवाई थी जिसे रविदास मंदिर कहा जाता था। जहां संत रविदास का मंदिर तो मैंने नहीं देखा था लेकिन भगवान शंकर के लिंग की पूजा हमारे सभी बुजुर्ग किया करते थे। उस लिंग पर पुष्प, प्रसाद और अमृत चढ़ाया जाता था। कुछ बुजुर्ग यहां पहलवानी भी करते थे। बहुत ही रमणीय स्थान था यह।

मुहल्ले में उस समय बहुत कम लोग ग्रेजुएट थे और जितने भी पढ़े लिखे थे वे लगभग नौकरी पर थे। मेरे भइया के बराबर के लोग पढ़ रहे थे और धीरे-धीरे जागृति की ओर अग्रसर थे और अंधविश्वास तथा ढोंग ढकोसले से दूर रहने में प्रयासरत थे।

चेतना का संचार हमारे बुजुर्गों में भी धीरे-धीरे होने लगा था। नवयुवाओं में महामानव बाबा साहेब डॉक्टर अम्बेडकर का प्रभाव बढ़ रहा था। कांग्रेस की सरकार भले ही थी लेकिन तब कांग्रेसी, नेता होने के साथ-साथ इंसान भी थे। दूसरे नेता भी थोड़े से सहृदय थे।

उन्हीं दिनों, जब मैं कक्षा तीन में पढ़ता था मुझे भली-भांति याद आता हैं कि मेरे भइया के साथी, गांव के चाचा, ताऊ आदि लोगों ने दस-दस पैसे और पच्चीस-पच्चीस पैसे अपने खर्चों में से निकालकर इकट्ठे किए थे। मुहल्ले के बड़े बुजुर्गों से भी कुछ योगदान लिया गया था। तब एक रिक्शे पर बाबा साहेब अम्बेडकर की तस्वीर रखकर फूल-मालाओं से उस तस्वीर को सजाकर एक छोटा सा माइक लेकर पूरे शहर में चौदह अप्रैल के दिन जुलूस निकाला गया था। 'बाबासाहेब अमर रहे' और ' जब तक सूरज चांद रहेगा, बाबा तेरा नाम रहेगा' या फिर, 'इधर भी देखो-बाबा

साहेब, उधर भी देखो बाबा साहेब, इग्लैण्ड में देखो-बाबासाहेब.......।' जैसे नारों से पूरे शहर में धूम मचाई गई थी। शहर के लोगों ने पूछा भी था, 'मुहल्ले के जाटव ये किसकी जय-जयकार रहे हैं।' तो लोगों ने जबाब दिया था,' ये इनके भगवान हैं।' जिस दिन पूरे मुहल्ले में बाबा साहेब अम्बेडकर की पहली जन्म-जयंती निकली थी। उसी दिन शाम को पढ़े-लिखे और समाज के प्रतिष्ठित लोगों की मुहल्ले के 'जनमासे' में पहली मीटिंग हुई थी जिसमें समाज के प्रति बाबा सहेब के योगदान और उनके जीवन पर बातें भी हुई थीं।

घरों में महिलाओं ने मंगलाचार गाए थे। भजन हिन्दुओं के ही थे। महिलाएं राम-सीता या शंकर-कृष्ण की जगह बाबासाहेब का नाम ले लेती थीं। यह श्रद्धा थी या भक्ति, कोई नहीं जानता लेकिन शुरूआत बेहद अच्छी थी। अपने आराध्य के प्रति आस्था और विश्वास देखकर आज भी मन भर आता हैं। महिलाएं अपनी-अपनी छतों पर ढोलक और मजीरा बजाकर गाती हुई कैसी भोली और मासूम लगती थीं कि उनके लिए मन श्रद्धा और सम्मान से झुक-झुक जाता था तब-

मेरे घर आए हैं बाबा साहेब
सहेली गाओ मंगलाचार
या फिर
मैंने सोने की थाली में भुजना परोसे
जैलेओ, जैलेओ मेरे बाबा साहेब
सोने के गढुआ गंगाजल पानी
पीलेउ पीलेउ मेरे बाबा साहेब

खूब नाच-नाच कर गाए थे ये गीत मुहल्ले की मांओं, बड़ी अम्माओं, भाभियों और बहिनों ने। कोई छल नहीं कोई कपट नहीं सिर्फ आस्था और विश्वास था। तब लगा था सभी के देवताओं की तरह हमारा भी कोई आराध्य हैं। हमारा भी कोई मार्गदर्शक हैं। हमारा भी कोई दाता हैं।

और यहीं से समाज में परिवर्तन की शुरूआत हो गई थी। बाबासाहेब की लिखी किताबें मुहल्ले में आ गई थीं। लोग एक दूसरे से मांग-मांग कर पढ़ते थे। उन पर अमल भी करने लगे थे।

पहली साल शुरूआत थी फिर वह जन्म-जयंती समारोह थोड़ा बड़ा हुआ....फिर और ....फिर और......फिर और बढ़ता गया। और साथ ही बढ़ता गया समाज का रूप। मौहल्ले में पढ़े लिखे लोगों की संख्या दिनों दिन बढ़ने लगी थी। डाक्टर, इंजीनियर से लेकर अध्यापक, बाबू और अधिकारियों के अंबार भी लगने लगे। हर घर में कोई ने कोई नौकरी कर रहा था।

बस्ती के सभी लोगों ने महामानव के इस सूत्र-शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो, को अपने-अपने जीवन में उतार लेने का संकल्प क्या लिया कि सवर्णों की छाती पर सांप लोटने लगा था। बड़ा हो गया था मैं। अब बारहवीं कक्षा में था।

तभी एक दिन मोहल्ले में एक मीटिंग हुई थी। क्यों न अपनी एक समिति गठित की जाए और वह समिति मुहल्ले में विकास कार्य करने के साथ-साथ समाज के लोगों को गंदे काम अर्थात् मरे हुए जानवरों की खाल खींचने, मरे हुए जानवरों को खींचने, जूता गांठने आदि से दूर रखे। इन कामों को बंद करवाए। हालांकि यह काम थोड़ा सा रिस्की था मोहल्ले के लगभग घरों में कोई न कोई व्यक्ति इन कार्यों से जुड़ा हुआ था। इसे रोकना 'हार्ड नट टु क्रेक' था फिर भी सफलता मिल रही थी। सफलता मिली भी और लोग जुड़े भी फिर इसी मीटिंग में बात हुई कि मुहल्ले के किनारे दक्षिणी ओर एक बड़ा सा तालाब हैं इस तालाब को मिट्टी डालकर समतल करके महामानव बाबा साहेब की प्रतिमा लगाई जाये। यह ठीक उसी तरह था जैसे पहले लोग मंदिर बनवाने की बात करते थे। अम्बेडकर मूर्ति स्थापना समिति गठित की गई थी। घर-घर से चंदा इकट्ठा किया गया था। आश्चर्य की बात थी कि सभी लोगों ने अपनी मेहनत की कमाई में से दिल खोलकर चंदा दिया था। अपने मुहल्ले के अलावा शहर के लोगों ने भी सहायता की थी। कुछ लालच भी दिया गया था कि जो व्यक्ति एक निर्धारित राशि देगा उसका नाम महामानव की प्रतिमा के नीचे लगी हुई पट्टियों पर लिखा जाएगा और जब तक महामानव की प्रतिमा रहेगी, उन सभी लोगों के नाम भी अमर हो जाएंगे। इस प्रकार काफी पैसा इकट्ठा हुआ था। और इस पैसे से बाबासाहेब की प्रतिमा मंगाई गई थी। तालाब में डालने की मिट्टी से लेकर ईंट गारा और मजदूरी तक सारा कार्य किया गया था और फिर जिस मुहल्ले का नाम भीमनगर था आज वहीं बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर की प्रतिमा लग गई थी। मुहल्ले का नाम सार्थक हो गया था।

मुहल्लेवासी बेहद खुश थे।

लोग बाबासाहेब को मानते ही नहीं थे बल्कि उनकी बात भी मानने लगे थे। लोगों ने अपने बच्चों को पढ़ाना-लिखाना भी शुरू कर दिया था जिनमें गरीब और निर्धन लोगों से लेकर पियक्कड़ और जुएबाज शामिल थे तो समझदार और असहाय महिलाएं भी थीं। बच्चे पढ़ रहे थे और नौकरियों में भी लग रहे थे।

पूरे शहर में मुहल्ले का नाम ऊंचाई पर था। लोग मुहल्ले से डर मानने लगे थे। मुहल्ले की एकता का पूरा शहर लोहा मानता था। शहर के बाजार में भी मुहल्ले के लोगों का दबदबा था। स्थिति यहां तक पहुंच गई थी कि बाजार में मुहल्ले के लोगों की दुकानें भी हो रही थीं जिनमें जूतों की दुकानों के अलावा, पंसारी, जनरल स्टोर, कपड़े और छोटे-मोटे आभूषणों की दुकानें भी होने लगी थीं। लगने लगा था कि महामानव का सपना साकार हो रहा हो।

अब बाबा साहेब डा. अम्बेडकर का जुलूस एक रिक्शे पर नहीं निकला जाता था, अब तो बहुत भव्य और शानदार तरीके से निकलने लगा था जिसमें पचासों झांकियां निकाली जाती, चार-चार बैण्ड होते, हाथी, घोड़े, आतिशबाजी चलती। झांकियां की तैयारियों में महीनों लगते थे। महीनों पहले से ही मौहल्ले में उत्सव सा माहौल होता था। अपार खुशियां और उन्हें सहेजे-सहेजे मुहल्ले के लोग अपने-आप पर इतराने लगते।

अधिकांश कच्चे घर अब पक्के और नए बन गए थे। पढ़ने-लिखने वाले और मेहनती लड़के मुहल्ले से बाहर दूसरे शहरों में नौकरी से लग गए थे उन्होंने वहीं अपने घर बना लिए। लोग संपन्न हुए तो अपने घरवालों, भाई-बहिनों का कुछ दिनों तक तो ध्यान रखा, बाद में, धीरे-धीरे अपनी संपन्नता के गुरूर में अपने परिजनों को भुलाने लगे थे जिन मां, बाप, भाई, बहिनों ने अपने घर के एक-एक बच्चे को पढ़ाने में अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया था, उन्हीं पढ़े -लिखे और संपन्न लोगों ने अपने अपनों को भुला दिया। इनमें से कुछ संपन्न लोग ऐसे भी थे जिन्होंने दूसरी जाति की सुन्दर, अमीर और घंमडी लड़कियों से शादी कर ली और वे अब न तो उन जातियों के रह गए थे और न ही अपने अपनों के। अब वही संपन्न लोग अपने ही परिजनों को हेय दृष्टि से देखने लगे। अव्वल तो वे गांव आते ही नहीं थे और आ भी तो उनकी वही सुन्दर, अमीर और घंमडी सवर्ण पत्नियां अपनी देवरानियों, जिठानियों और ननदों तथा देवरों को घृणा और तिरस्कार की नजर से देखतीं। मौका पाते ही उनका अपमान करने में नहीं चूकतीं। उनके पति उल्लुओं की तरह जोरू के गुलाम बने निर्लज्ज हो देखते रहते। परिणाम यह हुआ कि उनके परिजन हताशा और निराशा में जीने लगे थे। और लौटकर वही वापिस आने लगे थे जहां से चले थे। नई-नई उम्र के बच्चे शराब के नशे में धुत रहते। जुआ और सट्टों के अड्डे जमने लगे थे। मां-बाप आपने इन बर्बाद होते बच्चों को देखते तो उनकी आंखें बहने लगतीं। जिन पर गर्व किया था उन्होंने ही ......।

और इन्हीं सब पर गिद्ध नजर टिकाए सवर्ण हिंदूओं ने अपना असली रूप दिखाना शुरू कर दिया था। वे इन नशेड़ी, गंजेड़ी और जुआरियों को बाबा साहेब के प्रति भड़काने लगे। राम-सीता, कृष्ण-राधा की जीवनियां समझाते। उन्हें दारू पीने के लिए पैसे देते और उनसे दुगने-तिगुने वसूलते। नई उम्र के लड़के-लड़कियां रात दिन मोबाइलों पर आशिकी करते और उन्हीं पर पोर्न फिल्में देखते। आपस में खूब लड़ाइयां होती।

अभी पिछले महीने ही गया था मैं अपने मुहल्ले। पिता नहीं रहे। दुख में था। एक सप्ताह ही रहना था घर पर। भइया और पूरा परिवार शोक-संतप्त था इसलिए जब भी बातें होतीं तो पिता की यादें ही होती। पिता ने अपना सब कुछ लगाकर, अपने को स्वाहा करके पूरे परिवार को सब लायक बनाया। अनपढ़ पिता, मेहनत मजदूरी करते थे और एक ही बात हमेशा कहते थे, 'बच्चे पढ़ाइ लेउ फिर आधी मुक्ति मिल गई समझो।' उन्होंने हम सभी को पढ़ाया और पूरा घर पढ़-लिखकर छोटी-बड़ी नौकरियां कर रहे हैं लेकिन फिर भी पिता के न रहने पर पिता का दर्द सालता हैं।

अभी हम लोग पिता की यादें कर-करके बातें कर रहे थे कि हमारे पड़ोस के चाचा जी का जवान बेटा आया था और बोला, 'भइया आज रात को जागरण बजेगा। आइवे की कोशिश करियो .... भइया आपउ आइयो।' इतना कहकर वह चला गया था।

मैंने भइया से पूछा था, 'भइया ये वही जागरण हैं जिसमें लोगों पर देवी आती हैं.....ये सब ढोंग-ढकोसले अभी बंद नहीं हुए। मैं था तब तो लोगों ने स्वेच्छा से इस दुष्कृत्य को बंद कर दिया था। 'अब किस-किस बात के लिए रोओगे बेटा.......इसी मुहल्ले के लोग उन सभी बातों को मानने लगे जिनसे छुटकारा पाने में हमारी पीढ़ी के लोग बूढ़े हो गए। मैं सेवा से रिटायर हो गया। राजीव, राम सेवक, दीना, पीताम्बर, मोहन, कप्तान सब धीरे-धीरे बुढ़ापे की ओर भाग रहे हैं। आज के बच्चे बात ही नहीं मानते। कोई वैष्णो देवी जाता हैं तो कोई साईं बाबा को खोजने में लगा हुआ हैं।' अभी भइया की बात पूरी भी नहीं हुई थी कि घर के बाहर कुछ लोग आए। उनमें से कुछ को मैं जानता था ये वही लोग थे जो बाबा साहेब का जयकार करने में सबसे आगे रहते थे। पता चला कि इनका कोई बच्चा नौकरी से नहीं लग पाया तो बाबा साहेब को त्याग दिया हैं। अब काली मां और भैरों बाबा की शरण में जीवन का सुख ढूंढ रहे हैं।

इन लोगों ने भइया के बेटे को इशारे से बुलाया था, 'हम लोग संतोषी माता के मंदिर के लिए पैसा इकट्ठा कर रहे हैं। आप अभी दुख में हो....जब सब ठीक हो जाए तो देख लेना।' और इतना कहकर वे सभी चले गए थे।

भतीजे ने जब आकर बताया तो मैं रो पड़ा।

कुछ देर बाद भइया और मैं शाम को बाजार की ओर निकले थे। 'चलो लला शाम के लिए कुछ सब्जी ले आए।' कहा था भइया ने।

हम दोनों भाई बाजार के लिए जा रहे थे कि मैंने देखा, एक बहुत ही सुन्दर और लग्जरी बस जिस पर 'यादव ट्रांसपोर्ट' लिखा था। मोहल्ले के बाहरी छोर पर खड़ी थी। कुछ स्त्री-पुरुष उसमें बैठे थे और कुछ बैठने वाले थे और कुछ के आने का अभी इंतजार था शायद। हम दोनों भाइयों को देखते ही संवेदना व्यक्त करने वाले अंदाज में वे सभी एक स्वर में बोले थे, 'राधे-राधे.....राधे-राधे।' भइया ने 'जय भीम साहब' कहा था।

मैंने भइया से पूछा था,‘ ये राधे-राधे क्या हैं।’

ये सब लोग इस बस में भरकर एक ढोंगी बाबा के ‘प्रवचन‘ सुनने जाते हैं। वहीं सेवा करते हैं और कई-कई दिन अपने परिवार से अलग रहते हैं।’

‘कौन हैं वह नीच’ मैं अपने पिता के दुख को एक पल के लिए भूल गया था।

‘भोले बाबा।’ संक्षिप्त सा उत्तर भइया का था।

हम दोनों सब्जी लेने चले गए थे और जब सब्जी लेकर घर लौटे तब तक भइया का एक बेटा जो आगरा में पुलिस में नौकरी करता हैं, आ गया था। मैं उसे देखकर खुश हो गया था। उसने मेरे पैर छुए और बोला था, ‘राधे-राधे ,चाचा, राधे-राधे।’

मैं भौंचक्क रह गया और बजाय उसे आशीर्वाद देने के इतना ही बोला था, ‘व्हाट नॉनसेंस’

उस पर इसका कोई असर नहीं हुआ। तब भइया बोले थे, ‘आगरा-मथुरा पास-पास में हैं। मथुरा में अक्सर डयूटी रहती हैं इसकी, इसलिए राधे-राधे बोला इसने गुस्सा मत होओ......बेटा।’ एक बार को लगा था भइया धृतराष्ट्र हो गए हों।

‘और यहां...इस घर में आपने सिखाया....मैंने सिखाया....मेरे पिता ने सिखाया। सब भूल गया, नीच और सिर्फ राधे-राधे ही याद रह गया इसे....भुला दिया बाबा साहेब को....जा चुल्लू भर पानी में डूब मर कमीने।’ मैं लगभग चीखा था।

भइया मेरे मुंह की ओर देख रहे थे।

मेरे पिता की मृत्यु वाले दिन, जितना दुख मुझे हुआ था उससे कहीं ज्यादा दुख उस दिन हुआ था और लग रहा था चारों ओर मातम छा गया हो।

संपर्क: 9868846388

विरासत

अछूत की शिकायत

हीरा डोम

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी
हमनी के साहेब से मिनती सुनाइबि।
हमनी के दुख भगवानओं न देखता ते,
हमनी के कबले कलेसवा उठाइबि।
पदरी साहेब के कचहरी में जाइबिजां,
बेधरम होके रंगरेज बानि जाइबिजां,
हाय राम! धरम न छोड़त बनत बा जे,
बे-धरम होके कैसे मुंहवा दिखइबि ॥१॥

खंभवा के फारी पहलाद के बंचवले।
ग्राह के मुँह से गजराज के बचवले।
धोतीं जुरजोधना कै भइया छोरत रहै,
परगट होके तहां कपड़ा बढ़वले।
मरले रवनवाँ कै पलले भभिखना के,
कानी उँगुरी पै धैके पथरा उठले।
कहंवा सुतल बाटे सुनत न बाटे अब।
डोम तानि हमनी क छुए से डेराले ॥२॥

हमनी के राति दिन मेहत करीजां,
दुइगो रूपयावा दरमहा में पाइबि।
ठाकुरे के सुखसेत घर में सुलत बानीं,
हमनी के जोति-जोति खेतिया कमाइबि।

हकिमे के लसकरि उतरल बानीं।
जेत उहओं बेगारीया में पकरल जाइबि।
मुँह बान्हि ऐसन नौकरिया करत बानीं,
ई कुल खबरी सरकार के सुनाइबि ॥३॥

बभने के लेखे हम भिखिया न मांगबजां,
ठकुर क लेखे नहिं लउरि चलाइबि।
सहुआ के लेखे नहि डांड़ी हम जोरबजां,
अहिरा के लेखे न कबित्त हम जोरजां,
पबड़ी न बनि के कचहरी में जाइबि ॥४॥

अपने पहसनवा कै पइसा कमादबजां,
घर भर मिलि जुलि बांटि-चोंटि खदबि।
हड़वा मसुदया कै देहियां बभनओं कै बानीं,
ओकरा कै घरे पुजवा होखत बाजे,
ओकरै इलकवा भदलैं जिजमानी।
सगरै इलकवा भइलैं जिजमानी।
हमनी क इनरा के निगिचे न जाइलेजां,
पांके से पिटि-पिटि हाथ गोड़ तुरि दैलैं,
हमने के एतनी काही के हलकानी ॥५॥

यह कविता महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संपादित ‘सरस्वती’ (सितंबर 1914, भाग 15, खंड 2, पृष्ठ संख्या 512-513) में प्रकाशित हुई थी।

बहनें

□ पॉलिन स्मिथ, अनुवादः डॉ. देवेन्द्र कुमार

दक्षिणी अफ्रीकी लेखिका पॉलिन स्मिथ (1882-1959) लघु कहानियों के लिए प्रसिद्ध है। प्रस्तुत कहानी में एक किसान अपनी जमीन बचाने के लिए अपनी बेटी को एक बूढ़े जमींदार के साथ ब्याह देने के लिये मजबूर है। औरत की दुविधा और व्यथा बड़ी गंभीरता से प्रस्तुत की है। भारतीय कृषि प्रधान समाज के सामंती भू-संबंधों में यह बेहद प्रासंगिक है। प्रस्तुत है काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में अंग्रेजी विभाग में एसिसटेंट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत डॉ. देवेन्द्र कुमार द्वारा किया गया अनुवाद। सं.-

हम भाई-बहनों में मार्टा सबसे बड़ी थी। जब हमारी माँ की मृत्यु हुई और हमारे पिता बिटरवॉटर वासी बूढ़े यॉन रेडलिंग्वे के खिलाफ दायर खेत के पानी का अंतिम मुकद्दमा भी हार गये, उस समय मार्टा सोलह साल की थी। इन पानी के मुकद्दमों ने ही मेरी माँ को मार डाला था। अनेकों बार मेरी माँ ने मेरे पिता से विनती की थी कि वह रेडलिंग्वे से झगड़ा मोल न ले। वह जानती थी कि मेरे पिता द्वारा 'गमका' नामक नदी से अपने खेतों तक पानी के लिए नाला बनाने से बहुत पहले ही कानून द्वारा रेडलिंग्वे के जल अधिकार निश्चित कर दिये गये थे। लेकिन मेरे पिता को चैन कहाँ? वह कहते रहते कि यदि उन्हें अपने नाले के लिए पर्याप्त पानी मिल जाय, तो उसका जीकोगाट वाला खेत भी बिटरवॉटर वाले खेत जितना उपजाऊ हो जायेगा और फिर हम सब नजदीकी कस्बे प्लैटकॉप्स डॉप में जाकर रहने लगेंगे और मेरी माँ हमेशा काले पश्मीने के वस्त्र पहना करेगी। मेरे पिता को यह बात कभी समझ में नहीं आई कि मेरी माँ को न तो काले पश्मीने की चाह थी और न ही प्लैटकॉप्स डॉप में घर की। वह तो बहुत ही विनम्र महिला थी। उसे दिल की बीमारी भी थी। वह केवल यही चाहती थी कि घर में शांति बनी रहे और बच्चे हमेशा उसके आस-पास खुश रहें। लेकिन जब तक मेरे पिता पानी के मुकद्दमों में उलझे रहे, हमारे जीकोगाट वाले खेत से सुख-शांति दूर ही रही। हर नया मुकद्दमा हमारे लिए अधिक बेचैनी और दुःख लेकर आया। यहाँ तक कि अंततः मेरे माता-पिता का आपसी रिश्ता भी कड़वाहट और दुःख से भर गया। वही कड़वाहट और दुःख लेकर मेरी माँ मर गयी।

अंतिम मुकद्दमे में तो मेरे पिता को इतना ज्यादा नुकसान हुआ कि अपना खेत बचाने के लिए उन्हें अपनी कुछ जमीन बूढ़े रेडलिंग्वे के पास ही गिरवी रखनी पड़ी। निश्चित रूप से मेरे पिता उस समय पगला गये थे जो उन्होंने ऐसा किया। उस दिन से बूढ़े रेडलिंग्वे ने मेरे पिता को ऐसे घेरना शुरू किया और उन पर इतना दबाव बनाया कि अंततः उनके सारे रास्ते बंद हो गये। जब मेरे पिता की इधर कुआँ तो उधर खाई वाली स्थिति हो गयी और ऋण चुकाने के लिए जमीन का अंतिम टुकड़ा भी बेचने की नौबत आ गयी, तब एक दिन रेडलिंग्वे आया और उनसे बोला- ''जमीन की बजाय मैं तुम्हारी बेटी मार्टा मैग्डालीना को लूँगा।''

रेडलिंग्वे ने मेरे पिता को तीन दिन का समय दिया और धमकी दी कि अगर इन तीन दिनों में मार्टा शादी का वायदा नहीं करती, तो हमें जीकोगाट वाली जमीनें बेचनी पड़ेंगी। इस बात का मुझे उसी रात मार्टा से पता चला। उसने मुझसे कहा-''सूकी! पिता ने मुझे बूढ़े यॉन रेडलिंग्वे से शादी करने को कहा और मैं ऐसा करने जा रही हूँ।'' उसने आगे कहा- ''मेरी प्यारी सूकी! सुनो, अगर मैं बूढ़े रेडलिंग्वे से शादी कर लूँगी, तो वह हमारे पिता के नाले में पानी छोड़ देगा और हमारी जीकोगाट वाली जमीनें भी बच जायेंगी। मैं ऐसा करने जा रही हूँ और भगवान इसमें मेरी मदद करेंगे।'' मैंने रोते हुए कहा- ''मार्टा! बूढ़ा रेडलिंग्वे एक पापी इंसान है और कभी-कभी वह पगला भी जाता हैं। अगर भगवान को तुम्हारी सहायता करनी ही है, तो वह शादी से पहले करे। बाद में तो बहुत देर हो जायेगी।'' तब मार्टा बोली- ''सूकी! अगर मैं ठीक कर रही हूँ, तो इसका परिणाम भी ठीक ही होगा और मेरे लिए इस समय ठीक यही है कि मैं अपने पिता की जमीनें बचा लूँ। प्यारी सूकी! जरा सोचो, इस दुनिया में ऐसा कौन है जो पापी नहीं है? फिर बूढ़ा रेडलिंग्वे हर समय तो पगलाया नहीं रहता। मैं कौन होती हूँ रेडलिंग्वे को जाँचने-परखने वाली? फिर भला मैं कैसे अपने पिता को एक गरीब गोरे की तरह प्लैटकॉप्स डॉप की ओर जाते देख सकती हूँ?'' इतना कहकर उसने मुझे अपने साथ तकिये पर खींच लिया और देर रात तक मुझे बाँहों में भरे रोती रही।

अगले दिन मैं अकेली ही नदी के पार बूढ़े रेडलिंग्वे के खेत में गयी। कोई नहीं जानता था कि मैं वहाँ गयी और क्यों गयी? जब मैं

वहाँ पहुँची, तो रेडलिंग्वे घर के बाहर कुर्सी पर बैठा सिगार पी रहा था। मैंने कहा- ''यॉन रेडलिंग्वे! मैं अपने आप को तुम्हें समर्पित करने आयी हूँ।'' बूढ़े रेडलिंग्वे ने अपने मुँह से सिगार निकाला और मेरी ओर देखा। मैंने फिर कहा- ''मैं यह कहने आयी हूँ कि तुम मेरी बहन मार्टा की बजाय मुझसे शादी कर लो।'' रेडलिंग्वे ने कहा- ''सूकी डी याखा! तुम ऐसा क्यों करना चाहती हो?'' मैंने कहा- ''क्योंकि लोग कहते हैं कि तुम पापी हो और तुम्हें पागलपन के दौरे भी पड़ते हैं। तुम मेरी बहन मार्टा के बिल्कुल भी लायक नहीं हो।'' कुछ देर तक रेडलिंग्वे मुझे देखता रहा और सिगार हाथ में थामे भगवान जाने क्या सोचता रहा। फिर उसने तत्परता से कहा- ''फिर भी, सूकी डी याखा! मैं किसी और से नहीं, तुम्हारी बहन मार्टा से ही शादी करूँगा। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो मैं तुम्हारी जीकोगाट वाली जमीनें ले लूँगा जैसा कि मेरा कानूनन अधिकार है और तुम्हारे बाप को दिवालिया कर दूँगा। आगे जैसे तुम्हारी मर्जी।'' ऐसा कहकर उसने सिगार मुँह में रख लिया और फिर एक शब्द भी नहीं बोला।

पत्थर-सा भारी दिल लेकर मैं घर वापिस आ गयी। उस पूरी रात मैं भगवान से प्रार्थना करती रही- ''हे ईश्वर! मेरे साथ चाहे जैसा कर लें, लेकिन हमारी मार्टा को बचा लें।'' हाँ, मैंने मार्टा को बचाने के लिए उस रात भगवान से सौदेबाजी करने की कोशिश की। मैंने यहाँ तक कहा- ''अगर आप मेरी मार्टा को नहीं बचाते हैं, तो मैं समझूंगी कि दुनिया में भगवान है ही नहीं।''

तीन सप्ताह के अन्दर मार्टा की बूढ़े यॉन रेडलिंग्वे से शादी हो गयी और वह उसके साथ रहने के लिए नदी पार चली गयी। मार्टा की शादी वाले दिन मैंने अपने पिता के सामने उनकी बाइबिल रखी और कहा- ''पिताजी, अगर आप चाहें तो प्रार्थना करें, लेकिन मैं इसमें शामिल नहीं होऊँगी। दुनिया में भगवान नाम की कोई चीज नहीं हैं, क्योंकि अगर वह होता तो अवश्य ही हमारी मार्टा को बचा लेता। फिर भी अगर भगवान है, तो वह निश्चित ही मार्टा को बूढ़े रेडलिंग्वे के हाथों बेचने की एवज में हमारी आत्माओं को नरक में जलाएगा।'' उस समय मैं अपने पिता के साथ कुछ भी कर सकती थी। मेरा दिल मेरी बहन मार्टा को छोड़कर बाकी सारी दुनिया के प्रति कड़वाहट से भरा था। तब मेरे पिता ने कहा- ''सूकी! क्या यह चमत्कार नहीं है कि बूढ़े रेडलिंग्वे ने जो पानी मेरे नाले में छोड़ा है, उससे हमने क्या कर दिखाया है?'' मैंने जवाब दिया- ''इसमें चमत्कार क्या है? हम अपनी जमीनों को खून से सींच रहे है। क्या इसी कारण मेरी माँ नहीं मर गयी? और क्या इसीलिए हमने मार्टा को बूढ़े रेडलिंग्वे के हाथों नहीं बेच दिया?'' हाँ, मैंने यही कहा। मुझे यूँ लगा कि जैसे मेरे पिता खेतों में पानी दे रहे हैं और बूढ़ा रेडलिंग्वे पूर प्लैटकॉप्स के सामने मेरी बहन मार्टा को पकड़कर शर्मसार कर रहा है और यह देखकर मेरा दिल बैठा जा रहा है।

मैं प्रायः मार्टा से मिलने नदी पार चली जाती, लेकिन रेडलिंग्वे ने शादी के बाद एक बार भी उसे हमारे घर नहीं आने दिया। वह मुझसे कहता- ''देखो सूकी डी याखा, तुम्हारे पिता ने अपनी जमीनों के लिए अपनी बेटी को मुझे बेचा है, तो अब उसे अपने खेत सम्भालने दो और उसकी बेटी को मेरे हवाले रहने दो।'' वह हमेशा बस यही कहता।

मार्टा ने मुझे बताया कि रेडलिंग्वे हर समय पगलाया नहीं रहता। लेकिन शादी के दिन से ही उस पर एक सनक हावी हो गयी थी। वह चीख-चीखकर सारी दुनिया को अपनी पत्नी दिखाता और कहता कि इसे बुखे डी याखा ने मेरे हाथों बेच दिया है। वह कहता- ''देखो, वह अपनी नई घोड़ा-गाड़ी में कैसे बैठी है - मेरी पत्नी जिसे बुख़े डी याखा ने मेरे हाथों बेच दिया है।'' फिर वह जीकोगाट वाले खेतों की तरफ हाथ करके कहता- ''वो देखो, कितनी हरी-भरी जमीनें हैं जिन्हें बचाने के लिए बुखे डी याखा ने अपनी बेटी को बेच दिया है।'' यहाँ तक कि राह चलते अजनबी लोगों को भी वह अपनी घोड़ा-गाड़ी रोककर यही बातें बताता जबकि मार्टा उसके साथ बैठी होती।

एक दिन मेरे पिता ने मुझसे कहा- ''सूकी! क्या इस तरह मार्टा को अपनी नई घोड़ा-गाड़ी में पूरे इलाके में यूँ घूमते देखना आश्चर्यजनक नहीं है?'' मैंने उनसे कहा- ''इसमें हैरानी क्या है? वह अपनी नई घोड़ा-गाड़ी में बैठकर अपनी कब्र की ओर जा रही है। शीघ्र ही आप भी इसे महसूस करेंगे।'' मैंने उन्हें यह भी कहा- ''मेरी माँ को मारने में आपको कई साल लगे, लेकिन मेरा विश्वास कीजिए, मेरी बहन मार्टा को मारने में रेडलिंग्वे को उतने महीने भी नहीं लगेंगे।'' हाँ, भगवान मुझे माफ करें, लेकिन मैंने अपने पिता से यही कहा। मेरी सारी सहानुभूति और दया मार्टा के लिए थी। मेरे पिता के लिए मेरे पास कुछ भी शेष न था।

इस दौरान मार्टा ने यॉन रेडलिंग्वे के खिलाफ एक भी शब्द नहीं कहा। कहने को उसे कोई बीमारी नहीं थी, लेकिन वह हर रोज कमजोर होती जा रही थी। इधर रेडलिंग्वे रोज अपनी घोड़ा-गाड़ी जोतता और मार्टा को पूरे इलाके में घुमाता। धीरे-धीरे यह सनक इतनी बढ़ गयी कि अब वह सुबह से शाम तक मार्टा को घुमाता रहता और सभी मिलने वालों से चिल्लाकर कहता- ''देखो मेरी पत्नी को जिसे बुख़े डी याखा ने मेरे हाथों बेच दिया।''

यह सिलसिला दिनों-दिन चलता रहा। आखिरकार एक दिन मार्टा इतनी कमजोर हो गयी कि वह गाड़ी में चढ़ ही न सकी और नीचे गिर पड़ी। रेडलिंग्वे ने मुझे नदी पार बुलावा भेजा। जब मैं घर पर पहुँची, तो रेडलिंग्वे अपनी बन्दूक उठाए खड़ा था। उसने मुझे कहा- ''अब बताओ, सूकी डी याखा, किसका पाप ज्यादा भयानक है? तुम्हारे पिता का जिसने अपनी बेटी बेच दी, या मेरा जिसने उसे

खरीदा? मार्टा का जिसने अपने आप को बिकने दिया या तुम्हारा जिसने उसे बचाने के लिए अपने आप को समर्पित किया?'' ऐसा कहकर उसने अपनी बन्दूक उठाई और मेरे जवाब की प्रतीक्षा किये बिना ही बाहर चला गया।

मार्टा बूढ़े रेडलिंग्वे के बड़े-से पलंग पर लेटी हुई थी। वह केवल दो बार बोली। एक बार उसने कहा- ''मेरी प्यारी सूकी! वह हमेशा पगलाया नहीं रहता था। वैसे मैं कौन होती हूँ उसे परखने वाली?'' दूसरी बार उसने कहा- ''प्यारी सूकी! कितनी अच्छी बात हैं कि थोड़े समय बाद ही मैं अपनी माँ के साथ होऊँगी। भगवान ने इस तरह से मेरी सहायता की है।''

शाम के समय मार्टा मर गयी। लोग रेडलिंग्वे को बुलाने दौड़े, लेकिन वह कहीं नहीं मिला। पूरी रात और यहाँ तक कि अगले दिन भी वे उसे खोजते रहे। हमने मार्टा को जीकोगाट में मेरी माँ की कब्र में दफना दिया। तब तक भी रेडलिंग्वे का कोई अता-पता नहीं था। छः दिन तक उसकी खोज होती रही। अंत में पहाड़ों में उसका शव मिला। भगवान जाने वो कौन-सा पागलपन था जो रेडलिंग्वे को उस समय पहाड़ों की ओर खींच लाया, जिस समय उसकी पत्नी मर रही थी। उसे बिटरवॉटर में दफना दिया गया।

उस रात मेरे पिता पास आये और बोले- ''सूकी! तुमने ठीक ही कहा था कि मैंने अपनी जमीनों को खून से सींचा है। आज रात मैं इस नाले को पाट दूँगा जिसे मैंने गमका नदी तक बनाया था। भगवान मुझे माफ करें, मैं ऐसा करूँगा।'' मैं उन्हें कहना चाहती थी- ''खून अब खेतों में इतना गहरा पैठ गया है कि उसे धोया नहीं जा सकता।'' लेकिन मैंने ऐसा नहीं कहा। पता नहीं अचानक कैसे मेरे सामने मेरी बहन मार्टा का शांत लेकिन उदास चेहरा आ गया और उसने मेरी ओर से जवाब दिया- ''अब वही करो जो आपको ठीक लगे। मैं कौन होती हूँ आपको परखने वाली?''

संपर्क - 90057-68013

हलचल

डा. भीमराव अम्बेडकर की जयंती पर एससी-एसटी एक्ट पर परिचर्चा

13 अप्रैल को डॉ. ओम प्रकाश ग्रेवाल अध्ययन संस्थान में संविधान निर्माता डॉ. भीमराव आंबेडकर की जयंती के उपलक्ष्य में एससी-एसटी एक्ट पर परिचर्चा का आयोजन किया गया। मुख्य वक्ता के तौर पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में विधि विभाग में सहायक प्रोफेसर डॉ. अजीत चहल ने एक्ट की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए एक्ट में किए गए संशोधन पर चिंता व्यक्त की। कार्यक्रम की अध्यक्षता संस्थान के अध्यक्ष प्रो. टी.आर. कुण्डू व उपाध्यक्ष डॉ. ओम प्रकाश करुणेश ने की। कार्यक्रम का संयोजन संस्थान सचिव एवं 'देस हरियाणा' के संपादक डॉ. सुभाष चन्द्र ने किया और संचालन अश्वनी दहिया ने किया।

एससी एसटी एक्ट 1989 के बारे में डा. अजीत चहल ने कहा कि इसे समझने के लिए हमें 26सौ साल पहले के इतिहास को जानना होगा। जब वर्ण व्यवस्था अपने चरम पर थी और तथागत गौतम बुद्ध ने इसके अत्याचारों से लडऩे के लिए धम्म की स्थापना की थी। 26जनवरी, 1950 को संविधान लागू होते ही बिना किसी भेदभाव के हमारी पहचान एक नागरिक के रूप में हो गई। संविधान की धारा-1 नागरिकों की समानता और धारा-16 में रोजगार की समानता का प्रावधान करती है। धारा-17 में छूआछूत को प्रतिबंधित किया गया। 1955 में प्रोटेक्शन ऑफ सिविल लिबर्टी एक्ट बनाया गया, जिसमें सभी नागरिकों के बुनियादी अधिकारों को सुरक्षा प्रदान की गई। यह कानून दलितों के उत्पीडऩ को रोकने में कारगर साबित नहीं हुआ। फिर 1989 में एससी-एसटी अत्याचार निरोधक कानून बनाया गया, जिसके बारे में समाज में अनेक प्रकार की भ्रांतियां हैं। एससी-एसटी एक्ट सेक्शन तीन में यदि अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों जाति के आधार पर प्रताड़ित किया जाएगा तो यह अपराध है। यदि इस मामले में कार्रवाई करने में पब्लिक सर्वेंट कोताही करते हैं तो कानून का सैक्शन चार उन पर लागू होता है। 20 मार्च 2018 को सर्वोच्च न्यायालय के डबल बैंच ने सुभाष काशीनाथ महाजन वर्सिज महाराष्ट्र राज्य सरकार के फैसले में कानून की मूलभावना को बदल दिया। इसलिए 2 अप्रैल को भारत बंद आयोजित हुआ और 3 अप्रैल को भारत सरकार की तरफ से पुनर्विचार याचिका डाली गई, जिसमें कानून बनाने के संसद के अधिकार में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप करने की बात की गई।

डॉ. टी.आर. कुंडू ने कहा कि जातिमुक्त समाज का निर्माण करके विभिन्न प्रकार के विवादों का समाधान किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि डॉ. भीमराव अंबेडकर द्वारा निर्धारित इस लक्ष्य को पूरा करने में अन्तर्जातीय शादियां महत्वपूर्ण हो सकती हैं। परिचर्चा में अशोक गौतम, ओम सिंह अशफाक, रजविन्द्र चंदी, ज्योति, राजेश कासनिया, प्रवीन, बीर सिंह, योगेश, प्रीतम, विजय विद्यार्थी ने सक्रिय हिस्सेदारी की।

किरळिया

□ चेखव, अनुवाद: राजेंद्र सिंह

विश्व प्रसिद्ध रुसी कहानीकार अंटोन चेखव ने अपनी प्रसिद्ध कहानी गिरगिट में शासन-प्रशासन में फैला भ्रष्टाचार, जनता के प्रति बेरुखी और अफसरशाही की चापलूसी को उकेरा है। भारतीय संदर्भों में भी प्रासंगिक है। प्रस्तुत है इस कहानी का हरियाणवी अनुवाद। सं.

दरोगा ओचुमिलोफ बजार आळे चौंक पै को जाण लागर्या था। उसनै पिंडियां तक का लाम्बा कोट पहर राख्या था अर एक सरकारी फाईल काख म्हं दाब राखी थी। उसके पाछै-पाछै एक लाल बाळां आळा सिपाहई था। सिपाहई नै दोनूँ हाथां म्हं बोहइया पकड़ राख्या था। जिसमैं खोस्से होए अँगूरां का ठाड्डा भर्या था। चौंक पूरा सुनसान पड़्या था। देखण नै बी आदमी कोनी था ...दुकानां अर धर्मसाळा के खुल्ले बारणे न्यू दिक्खैं थे ज्युकर कोए कई दिनां का भुक्खा मुहँ बा कै रोटी आळै नै देख्या करै। और तो छोड्डो, कोई भिखारी बी कोनी था।

"हाए, खा लिया रै! ... ओ तेरी कै, तू तो पाड़ै रै ... सत्यानासी !" किसे माणस की चीख-पुकार दरौगा ओचुमिलोफ के कान्नां मैं पड़ी। "रै पकड़ियो इसनै ! पाड़ना तो इब ऊँ बी गैर कानूनी है! पकड़ियो रै पकड़ियो रै ! देख कै ... देख कै !"

फेर एक कत्तुरिये के किकाणें की अवाज आई। ओचुमिलोफ नै देख्या तो स्याम्मी पिचूगिन का लाकड़ियाँ का टाल था जिसमैं तै एक लँगड़ा कुत्ता भाज्दा जाण लागर्या था अर उसकै पाच्छै-पाच्छै एक आदमी भाजर्या था जिसने धौळा कुरता पहर राख्या था अर उसकी गरखी के बटण खुल्ले पड़े थे। भाज्दे-भाज्दे उस आदमी नै कुत्ते पै छाळ मारी अर ड्ह पड़कै कुत्ते की पाछली दोनु टांग पकड़ ली। कुत्ते नै फेर कूँ-कूँ करया। फेर एक अवाज आई, "जाण ना दियो रै !" सरू-सरू म्हं तो एक-आध दुकानदार नै ऊँघदै-ऊँघदै नै मुँह बाहर काढ़ कै देख्या। थोड़ी सी हाण म्हंए लाकड़ियाँ कै टाल पै आच्छी भीड़ लाग गी। चाणचक इतने आदमी हो गे, जणूं धरती पाड़ कै लिकड़े हों।

सिपाई ने कह्या न्यू लागै कोए रोळा होर्या जनाब,। दरोगा खब्बे कहनी घूम कै लम्बी-लम्बी डींघ भरकै भीड़ धौरै पोहंच्या। खुल्ली गरखी आळा आदमी लाकड़ियाँ कै टाळ कै गेट पै खड़्या था। उसने आपणा सज्जा हाथ उप्पर ठा राख्या था अर भीड़ नै वा आंगळी दिखाण लागर्या था जिसमैं तै लहू लिकड़ै था। देखदें बेरा पटै था के उसनै दिन म्हंए थोड़ी बोहत दारू की घूँट ला राखी थी। अर कुत्ता कानी न्यू देखै था जणूं कहण लागर्या हो, "तन्ने मैं न्यू ए थोड़ी छोड़ दयूंगा !" आंगळी ऊपरनै न्यू ठा राखी थी ज्युकर लड़ाई जीतें पाच्छै फौज झंडा ठायै करे। दरोगा नै पिछाण लिया के यु तो हरायुकिन सर्राफ है। अर ओ अपराधी जिसनै यु सारा रोळा करवा राख्या था, पैन्ने से मुंह आळा शिकारी नसल का डब्बा कतुरिया था जो अपणे दोनू आगले पैर बाहर काढ़े भीड़ कै बीच मैं पसर्या पड़्या था। उसकी हालत देखण जोगी थी, आंख्यां मैं पाणी था अर उप्पर तै तळै तक काम्बण लागर्या था।

" रै के बिजळी पड़गी!" धक्के मार कै भीड़ मैं बड़दी हाण दरोगा नै पुच्छया। "क्यूँ खड़े हो उरै? अर या आंगळी क्यूँ कास मैं ठा राखी है ?... कुणसा है जोणसा रुक्के मारै था ?"

खांसदा-खांसदा हरायुकिन बोल्या - जनाब मैं तो चुपचाप अपणै राह जाण लागर्या था। मैं अर मित्रिच लाकड़ियाँ बारे म्हं बात करण लाग रे थे के जिबे इस मरियल से कतुरिए नै मेरी आंगळी पै बुड़का भर लिया... इब देखो जी, मैं ठहर्या काम-धंधे आळा माणस ... मेरा तो काम बी आंगळियां का है, बड़े ध्यान तै करणा पड़ै। मन्नै तो हर्जाना चाहिए, इब एक हफ्ता तो मैं कुछ नीं कर सकदा, अर हो सकै है ... जनाब या बात तो कानूनन बी गल्त है ... न्यू आंदे-जान्देयाँ नै कुत्ते पाड़न लाग गे ... जीणा हराम हो जैगा।"

"हूँ ... आच्छया ठीक," ओचुमिलोफ नै करड़ा हो कै कह्या, अर फेर खंगारिया करकै बोल्या, "या बात सै ! यू कुत्ता है किसका ? मैं इस बात नै न्यू ए नीं छोड़ण आळा ! मैं बताऊंगा कुत्त्यां नै क्यूकर खुल्ले छोड़्या करैं! बणे फिरैं है चौधरी ! क़ानून की तो कोए परवाह नहीं रही। यें तो इब सिद्धे करणे पड़ैंगे। जिब जुरमाना लागैगा ना, आप्पो बेरा लाग जैगा, यें कुत्ते-पुत्ते सुन्ने छोड्डण का के नतीजा सै ! ... येलदरिन," दरोगा चीख्या, अर गैल जो सिपाहई था उसतै बोल्या, "बेरा पाड़ यु कुत्ता है किसका, अर एक रिपोट तैयार कर ! यु कुत्ता तो तुरत मरवाणा पड़ैगा! सर्तियाँ तौर पै पागल है यू कुत्ता ... पर यू है किसका ?"

भीड़ मैं तै किसे नै कह्या। "जनाब हो सकै है यू कुत्ता डीसी

साब का हो।," "डीसी ... झिंगालोफ साब का, हूँ ... येलदरिन, ले एक बार मेरा यू कोट पकड़... आज तो घोट होरी सै! हो सकै है मींह बी आजे... लेकिन मेरै एक बात समझ मैं कोनी आई, इसनै तेरै बुड़का भर्या क्यूकर ?" दरोगा नै हरायुकिन कानी देखदे होए कह्या। "यू तेरी आंगळी तक पोहंचया क्यूकर? यू तो नन्हा सा कतुरिया है, अर तूं इतना बडा सांड बरगा! जरूर तनै कोए आंगळी लाई होगी। अर फेर तन्ने मुआवजा के लालच म्हं या कुत्ते आळी सरारत करी। तेरी रग-रग जाणूं सुं मैं, बोह्त फिरैं सैं तेरै बरगे, मुआवजा मांगण आळे!"

भीड़ मैं तै कोए बोल्या। "दरोगा जी, इसनै मजाक-मजाक मैं कुत्ते के मुहं पै बीड़ी लाइ थी, अर इसनै बुड़का भर लिया ... यू बिना दिमाक का आदमी है जी,"

"आरे काणें, क्यूँ जूठ बोल्लै है! तन्ने कुच्छ देख्या बी है ? लागर्या बकवास करण ! दरोगा साब बड़ा स्याणा अफसर है, आप्पो देख ले गा कूण जूठ बोल्लै है अर कूण साच बोल्लै। जे मेरी बात जूठी लाग्गै है, तो चालो कचेहड़ियां म्हं। आजकल तो सब बराबर हैं। मेरा अपणा भाई बी पुलिस म्हं है ... मैं बता दयूं त्हामनै !"

"घणे क़ानून न काट्टै। "

"ना जी, यू डीसी साब का कुत्ता नीं हो सकदा," पुलिसिया जमा गंभीर हो कै बोल्या, "उन धोरै तो इस तरहां का मरियल सा कुत्ता सै ए कोनी। उनके तो सारे कुत्ते झबरु सैं, बडे-बडे कान्नां आळे।"

"पक्की बात? "

"सोळह आन्ने जनाब, मन्नै बेरा है। "

"मन्नै बी बेरा है, डीसी साब धोरै तो सारे महंगे-महंगे, बढिया नसल के कुत्ते सैं। अर इसकी नसल का तो भगवान नै ए बेरा ! इसके बाळ देखिओ, इसका खलड़ा देखिओ ... जणूं खाज लाग री हो। इस तरहां की कुत्तैड़ नै कूण पाळै था! ... किसे का दिमाक खराब है! इस तरियां का जै कोए कुत्ता मास्को या पिट्सबर्ग म्हं मिल बी जै नी, त्हामनै बेरा उसकै गैल के बणेगी ? एक मिन्ट मैं काम तमाम, फडक दे सी। हरायुकिन, देख तेरै चोट लाग री सै, नुक्स्यान होया सै, ह्आम इस मामले नै न्यू नीं छोड़ सकदे ... इसकै मालक तै सबक तो सिखाणा पडैगा, जमा हद चक राखी सै ... !"

"लेकिन जनाब, यू कुत्ता डीसी साब का हो बी सकै सै," ठोडी पै खाज करदा होया सिपाह्ई बोल्या। "इब देखो मुँह पै तो इसके किम्मैं लिख नीं राख्या ... पर इस ढाळ का कुत्ता पाच्छै सी मन्ने उन धोरै देख्या जरूर सै।"

"हाँ हाँ दरोगा साब, यु कुत्ता डीसी का ए है !" भीड़ मैं तै एक जणै नै रुक्का मार्या।

"हूँ ... रै येल्दरिन, मेरा कोट दे ... हवा कुच्छ तेज सी नीं हो गी? ... ठण्ड सी बी हो गी। न्यू कर तू इसनै डीसी साब की कोठी पै ले ज्या, अर बेरा पाड़। न्यू कहिये के मन्नै टोहया है। अर न्यू बी कहिये के खुल्ला ना छोड्या करो... के बेरा कितना महंगा कुत्ता हो ! ... अर जै न्यू कोए बी बसुरा इसकै मुँह पै बीड़ी लावैगा, यू तो तोळा ए हो जा ले गा। कुत्ता तो बड़ा नरम जीव होवै... अर तू इस हाथ नै तळैनै कर ले, दुस्ट ! इसने जिबका कास मैं टांगयैं खड्या है। कोए फैदा नीं, सारा कसूर तेराए है ... !"

"ल्यो डीसी साब का रसोइया ए आग्या, उस्से तै पूच्छल्यो ... रै प्रोअर भाई ! देखिए इस कुत्तै नै एक बार ... त्हारा ए सै के ?"

"क्यूँ मजाक करो सो ! डीसी साब नै इस तरियां का कदै कोए कुत्ता पाळ्या ए कोनी।"

" मन्नै तो पहल्यां ए बेरा था, के पुच्छण की बी जरूरत कोनी," ओचुमिलोफ बोल्या, "यु कुत्ता आवारा है। देखदें बेरा लाग्गै सै। न्यू ए टेम बरबाद करण लाग रे हाँ। ईब तो डाऊट आळी कोए बात ए कोनी रहइ ... इसका काम तमाम करो। और कोए बात नी होवैगी इस बारे मैं। "

"यू कुत्ता म्हारा नी सै," प्रोअर बोल्या। "यू तो डीसी साब के भाई का कुत्ता सै जो कालै ए आया सै। साब नै तो सिकारी कुत्ते पसन्द ए कोनी, अर उनका भाई इनपै मर्या-जावै ... "

"तेरा मतबल, डीसी साब के भाई आपणै सहर म्हं है? व्लादिमीर इवानिच ?" या बात पुच्छदी हाण ओचुमाइलॉफ़ खुसी तै पाटण नै होग्या। "कमाल है ... उन्ती तो मैं जाणू हूं ! मन्नै ... मन्नै बेरा ए कोनी लाग्या ! मिलण-फेट्टण आग्या होगा ?"

"हाँ।"

"चाळा पाटग्या भाई, मन्नै... ओ अपणै भाई तै घणे दिन दूर रह बी कोनी सकदा। अर मन्नै बेरा बी नीं ! ठीक ... तो यू साब का कुत्ता सै ! आनन्द हो गे भाई ... ले पकड़ इसनै। कूण कहदे इसमें कोए चूक सै ... कितना प्यारा कतुरिया! ... इसकी आंगळी थोड़ा सा दांद सा मार दिया ! हा-हा-हा ... रै चल सेरु खड्या हो, क्यूँ काम्बण लागर्या सै ? ओ - हो -हो ... लाग्गै छोह् म्हं है ... है बड़ा प्यारा !"

प्रोअर नै कुत्ते को अवाज मारी अर उसनै ले कै साब की कोठी कानी चल दिया। जितने माणस खड़े थे, सबनै हरायुकिन का मजाक उड़ाना सुरु कर दिया।

"तू घणा स्याणा बणै सै, मैं करूंगा तन्ने सिद्धा !" ओचुमिलोफ नै उसे धमकाया, अर अपणा कोट पहरदें-पहरदें, चौंक के बिच्चो-बीच होंदा होया अपणी राह्ई चल्या गया।

संपर्क - 9729751250

पत्र-पत्रिकाएं : साहित्यिक सरोकार एवं प्रसार

□ गुंजन कैहरबा

सृजन उत्सव के दौरान 25 फरवरी को 'पत्र-पत्रिकाएः साहित्यिक सरोकार एवं प्रसार' विषय पर परिसंवाद का आयोजन हुआ। जिसमें 'युवा संवाद' पत्रिका के संपादक डा. अरुण कुमार, 'बनास जन' पत्रिका के संपादक पल्लव, 'हंस' पत्रिका से संबंद्ध विभास वर्मा तथा 'अहा-जिंदगी' के पूर्व संपादक आलोक श्रीवास्तव ने शिरकत की। इसका संयोजन किया 'देस हरियाणा' के संपादन सहयोगी डा. कृष्ण कुमार ने। प्रस्तुत है चर्चा की रिपोर्ट- सं.

कृष्ण कुमार - संभवतः हजार दो हजार या तीन हजार से ऊपर कोई सरकुलेशन नहीं है। इस स्थिति में हम साहित्य को जनता के पास किस ढंग से लेकर जाएं। और जब साहित्य जनता के पास नहीं जा रहा तो साहित्यकर्मियों की भी क्या हैसियत होगी। उनके दिमाग में क्या इमेज बनेगी। इस स्थिति से हम किस प्रकार से निपटें कि हम पत्रिकाएं निकालते हैं - छापते हैं। लेकिन हम जिनके लिए छापते हैं वहां तक पत्रिकाएं पहुंच नहीं पाती हैं। पाठकों की रुचि का भी इसमें कोई ना कोई सवाल जुड़ा है।

डॉ. एके अरुण - सबसे पहले 'देस हरियाणा' व हरियाणा सृजन उत्सव का आभार व्यक्त करता हूं। एक जटिल समय में एक सार्थक काम आप कर रहे हैं। सवाल इतना बड़ा है कि इसका जवाब दूसरे बड़े लोग देंगे। कुछ पत्रिकाएं हैं जो ज्यादा बिकती हैं। 'अहा जिन्दगी' के पाठक लाखों में हैं। शायद आपका इशारा लघु पत्रिकाओं व सरोकारी पत्रिकाओं की तरफ है। निश्चित रूप से सरोकारी पत्रिकाओं का प्रसार सीमित है। इसकी कई वजहें हैं। उन वजहों में कुछ वजहें हमसे जुड़ी हैं। हम पत्रिकाओं के लोग साधन सम्पन्न नहीं हैं। मैं एक छोटा सा वाकया आपको बताऊंगा 'युवा संवाद' पत्रिका से जुड़ा। जाहिर है सत्ता में, सरकार में शामिल लोगों की बहुत भागीदारी होती है पत्र-पत्रिकाओं को चलने-चलाने में। दिल्ली में जो सरकार है लघु पत्रिकाओं के प्रति उसका बहुत ही बेरूखा नजरिया है। वर्तमान में जो सरकार है जिनसे लोगों ने अपेक्षाएं की थी। उनकी उम्मीदें ज्यादा थी कि लोगों के हितों को लोगों की राय से, लोगों की बातचीत से, लोगों के वोट से ये सरकार बनकर आई है। निश्चित रूप से लघु पत्रिकाओं को कुछ बल मिलेगा। केन्द्र सरकार की बात करें तो वहां तो एक अलग किस्म की विचारधारा है। हमारी जो एक समस्या है जो निकल के आ रही है, कि हम पहुंच पाठकों तक पहुंच नहीं पा रहे हैं, साधन के अभाव में। ऐसा नहीं है कि पाठक हमसे जुड़ना नहीं चाहते हैं। डाक-व्यवस्था ऐसी है कि उन तक पत्रिका पास पहुंच नहीं पाती है। एक पाठक जो प्रतिबद्ध पाठक है, उस तक पत्रिका पहुंचाने में हम लोगों को तीन से चार अंक गंवाने पड़ते हैं।

बहुत सारे सवाल हैं लेकिन पत्रिकाओं की ऐसे समय में जरूरत ज्यादा है। ऐसे ही समय में पत्रिकाओं की जरूरत है जब अंधेरा गहरा रहा हो। जब स्थितियां विकट हों और जब विमर्श पर ताला लगाया जा रहा हो। ऐसे समय में हमारी ज्यादा जरूरत है। हम लोग अपनी हिम्मत से अपने दमखम से आप सब की ताकत से खड़े रहें, खड़े रहेंगे। मुझे तो भरोसा है 15 वर्षों से युवा संवाद लगातार निकल रही है। हमारी भी दुविधाएं रही। लेकिन हम लोग रुके नहीं, विज्ञापन का इंतजार नहीं किया। तमाम उन मुद्दों पर जो जनता के मुद्दे हैं उनके साथ अपना जुड़ाव रखा। और आज हम बुलंदी के साथ खड़े हैं।

कृष्ण कुमार - पाठकीयता का सवाल है। पारंपरिक जो पाठक था जो कभी धार्मिक साहित्य पढ़ता था। वो वहां से कट तो रहा है। लेकिन वैज्ञानिक सोच व प्रगतिशील साहित्य की ओर नहीं जा रहा, बल्कि जो खाली जगह हुई वो या तो वो कोई विवादित चीज ढूंढ रहा है या हम ये कहे कि वो अश्लील साहित्य की ओर वो लगातार बढ़ रहा है। ऐसा समाज जो अश्लील साहित्य की ओर बढ़ रहा हो, विवादित चीजों को ढूंढ रहा हो तो उस स्थिति में हम पाठकीयता का निर्माण किस प्रकार कर सकेंगे।

विभास वर्मा- मैं भी सबसे पहले धन्यवाद देना चाहता हूं कि मुझे इस कार्यक्रम में आने का अवसर दिया गया। और इसलिए भी कि मैं दिल्ली में बहुत सारे कार्यक्रमों में गया हूं लेकिन यहां पर आने का मेरा अनुभव कुछ अलग हैं। यहां आकर आस्था बढ़ती है, हिम्मत मिलती है कि जिस प्रकार का आपका जोश है, सक्रिय भागीदारी मैं यहां देख रहा हूं।

पाठकीयता की जहां तक बात है पत्रकारिता के संदर्भ में पाठकीयता कम रही है हमेशा। लेकिन इन दिनों उसके कम होने के कारण और बढ़ते जा रहे हैं। गंभीर चीजों की ओर रुझान लोगों का

कम रहता है। कभी भी बहुत सारे लोगों का रुझान नहीं रहता है।

जब से टेलीविज़न घर-घर पहुंच गया तो लोगों का बहुत सारा समय टेलीविजन देखने में चला गया। बहुत सारी चीजें पढ़ने के लिए लोग पत्रिकाओं का इस्तेमाल करते थे। छिटपुट कहानियां पढ़ने के बजाए अब लोग टेलीविजन सीरियल देखने लगे। उनकी जो एक प्यास है वो बुझने लगी। दूसरी बात ये कि पत्रिकाओं में जो विमर्श होता था। उसके जगह टेलीविजन चैनल पर चलने वाले विमर्श ने ले ली है। लेकिन टेलीविजन की प्रकृति ऐसी है कि उस पर कोई भी बहुत गंभीर विमर्श नहीं हो सकता है। वो दृश्य की और श्रव्य की या पाठकीय प्रकृति का अंतर है। आप किसी भी चीज को सुनते हैं तो एक तरह की झांव- झांव में या आप अपनी बात कह लेंगे, दूसरी तीसरी बात कहेंगे और वो दोनों बातों के मेल से कोई तीसरी बात निकलने का होगा तो समय खत्म हो जाएगा। या बात किसी ओर दिशा में बदल जाएगी। क्योंकि समय का दबाव और आपका दिमाग सुनने और देखने दोनों चीजों में सक्रिय होता है तो उस गंभीरता के साथ बातों को पकड़ता नहीं है जिस तरह आप पढ़ते वक्त उसको पकड़ते हैं। वह एक चीज चल गई है, लोगों के लिए सुविधाजनक है सुनना। एक तीसरी चीज जो आ गई है - सोशल मीडिया। जो हर समय वाट्सअप व फेसबुक पर बहुत सारी सूचनाएं आ जाती हैं।

साहित्यिक पत्रिका की बात करते समय एक अन्तर ये है कि सामान्यत: पत्रिकाएं सूचनाओं के प्रसार से जुड़ी हुई चीज होती है। लेकिन साहित्य मात्र सूचना नहीं है वो सूचनाओं के परे जाता है हमेशा। और सूचनाओं के परे जाने के लिए एक अवकाश चाहिए होता है। आज की जीवन-शैली में अवकाश सिमटता जा रहा है। और ये सबसे बड़ा कारण है कि हमारी पाठकीयता में कमी आ रही है। दूसरी चीज - लोगों के पास जितनी आसानी से टेलिविजन पहुंचता है एक साथ। पत्रिकाएं उस तरह से नहीं पहुंच सकती है। पत्रिकाओं को फिजीकली ले जाना होता है, उसे कहीं पहुंचाना होता है। वो डिजीटली अब तो जा सकती है जैसे इस माध्यम से। एक साथ कई जगह पर। यह एक क्रांतिकारी परिवर्तन है। ठीक उसी तरह से छापाखाना एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाया था। कि एक साथ बहुत बड़ी बात बहुत बड़ी जगह पर पहुंच सकती थी। वाचक संस्कृति से जो प्रिंट संस्कृति का जो परिवर्तन है उसी तरह ये परिवर्तन आ रहा है।

मुझे लगता है कि अंतत: दृश्य लिखित शब्द का विकल्प नहीं हो सकता यह समझना जरूरी है। स्क्रीन पर पढ़ें चाहे हम पन्ने पर पढ़ें, लिखित शब्द की महत्ता कम नहीं हो सकती। छवियां उसका विकल्प नहीं बन सकती। इसलिए लिखित शब्द को बचाए रखना जरूरी है। डिजीटल पर बचता है, चाहे पन्नों पर बचता है, उसकी मुझे बहुत ज्यादा चिंता नहीं होती।

दूसरा पहलू यह है कि कई बार हम यह समझते हैं कि हमने कुछ लिख दिया है और हमारा काम हो गया है। हम उस लिखे हुए को पहुंचाने के प्रति उतने चिंतित नहीं होते हैं। हमारा पाठक वर्ग कौन, कैसा है, उसको लेकर हमारी समझ बहुत साफ नहीं होती है। उससे किस भाषा में बात करनी है। उसको किन-किन चीजों की जरूरत है। इसके बारे में हमारी समझ साफ नहीं है। हम अपने ज्ञान को उस पर कई बार थोंप देना चाहते हैं। इस कारण से भी हम वहां तक नहीं पहुंच पाते हैं।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जो पाठक को पसंद है, उसको आप वही दीजिए। वह एक तरह की लोकप्रियता के खाते में जाता है और वह पोपुलर फिल्में कि पब्लिक को यही पसंद है। पब्लिक की जरूरत क्या है और पब्लिक आपके कहे को समझती है या नहीं। समझ में आने की चीज और सम्प्रेषण की जो बातें हैं। कम्यूनिकेट कर पा रही हैं या नहीं चीजे।

साहित्य में मेरे ख्याल से सम्प्रेषण और गुणवत्ता इसका एक संतुलन होना बहुत जरूरी है। गुणवत्ता जितनी जरूरी है उतना ही जरूरी संप्रेषण है। और इस संतुलन का सबसे सही अनुपात मैं प्रेम चन्द के साहित्य को मानता हूं। और 'हंस' की विशेषता यही है कि इसने प्रेमचन्द को अपना आदर्श बनाया है। जो इस बात को लेकर इतना चिंतित थे कि हमें लोगों तक चीज पहुंचानी है उतने ही चिंतित इस बात से भी थे कि हमें किस भाषा में पहुंचानी है। और इसको कितने अलग-अलग स्तर के लोग पढ़ेंगे। वो सब इस चीज को समझ पाएंगे या नहीं।

कई बार राजेन्द्र यादव पर एक आरोप लगता था कि वो विमर्श को बहुत एक तरफा बना देते हैं थोड़ा सतही बना देते हैं, लेकिन वो सतही बनाना शायद सम्प्रेषण के लेकर कर था मैं ये नहीं कहता कि वो एक गंभीर विमर्शकार थे। लेकिन उनकी अपनी बहुत सारी कमजोरियां भी हो सकती हैं।

हंस के साथ मेरा पाठक होने के नाते जो सम्बंध रहा हैं। मैं ये कह सकता हूं कि हंस की पाठकीयता या प्रसारण संख्या काफी कम हुई है पहले के हिसाब से। लेकिन अभी वो दस हजार के आस-पास है। कई अंकों की मांग हमारे पास और भी ज्यादा आती है। इस बार हमने विश्व पुस्तक मेले में स्टाल लगाया तो बहुत सारी मांग आई। यह हमने देखा कि बहुत सारी चीजें शायद पाठकों तक पहुंच नहीं पा रही हैं। हमारा जो वितरण-तंत्र हैं हमको इसपर काम करना चाहिए।

एक बार बहुत पहले लघु पत्रिकाओं के एक समूह ने मिलकर यह कोशिश की थी। लघु पत्रिकाओं से संबंधित कलकत्ता में एक सम्मेलन हुआ था। मिलजुल कर कुछ योजनाएं बनाई। लघु पत्रिकाएं ऐसी चीज हैं, जो एक दूसरे के साथ सहयोग में विकसित हुई।

आजादी से पहले और बाद में भी साहित्यिक पत्रिकाओं का

अपना एक लेखक वर्ग होता था। आज के दिन में ऐसा कोई लेखक वर्ग नहीं होता हैं। एक लेखक हर तरह की पत्रिका में छपना चाहता हैं। एक संपादक दूसरी पत्रिका में छपता हैं। दूसरा संपादक तीसरी पत्रिका में छपता हैं। यह सहयोग की भावना विकसित हुई हैं। इसी सहयोग की भावना से एक वितरण-तंत्र का विकास करना आज के दौर में सबसे बड़ी जरूरत हैं।

एक चीज और मैं कहूंगा संसाधन को लेकर। लघु पत्रिकाओं का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें यह तय किया गया था कि सरकार जो मदद देती हैं। वह जनता के पैसे की मदद हैं। इसलिए जनता के पैसे जो सरकारी विज्ञापन होते हैं, उसको लघु पत्रिकाओं को हक से मांगना चाहिए और उस पर दावेदारी करनी चाहिए। कम से कम दिल्ली में सरकारें यह मदद देती थी और वह बड़ी मदद होती थी। इस सरकार ने वह मदद बंद कर दी और मदद का सारा पैसा एक पत्रिका में सीमित कर दिया हैं, जोकि हिन्दी अकादमी की अपनी ही पत्रिका हैं। जोकि व्यावसायिक पत्रिका जैसे पन्ने पर निकलती हैं।

खैर, मुझे लगता हैं सरकारें हमेशा आपकी मदद करने के लिए नहीं आएंगी। सरकारों का मुंह नहीं देखना चाहिए। सरकारों से मांग जरूर रखनी चाहिए, अपने हक के लिए लड़ना चाहिए। लेकिन उनका मुंह जोहते हुए हम नहीं रह सकते। हमको अपने तौर पर एक तंत्र विकसित करना चाहिए।

कृष्ण कुमार - मुझे अष्टभुजा शुक्ल की कुछ पंक्तियां याद आ रही हैं-

भाग रहा हूं निपट अकेला,
ढूंढ़ रहा हूं साथी को,
हाथ से हाथ मिलेंगे साथी,
तो कस लेंगे हाथी को।

हम देखते हैं कि एक तरफ तो साहित्यिक गतिविधियों को कम करने का प्रयास किया जा रहा है। चाहे पाठ्यक्रम से साहित्य को हटाया जा रहा हैं या उसकी उपेक्षा की जा रही है। दूसरी तरफ से हम देखते हैं कि साहित्यकारों को पुरस्कारों से नवाजा जा रहा है। बिल्कुल दो विपरीत स्थितियां हैं। इस परिस्थिति को तोड़ने के लिए लघु पत्रिकाएं क्या कर सकती हैं?

पल्लव- मैंने पिछले 10-12सालों में ऐसा बढ़िया आयोजन जनता के सहयोग से जनता के द्वारा नहीं देखा। यह कहते हुए मैं बहुत खुश हो रहा हूं। मैं 'बनासजन' नाम की पत्रिका निकालता हूं। पत्रिका निकालने से पहले मैं कहानियां लिखा करता था। जब से मैं पत्रिका निकालने लगा हूं, मेरा सारा समय पत्रिका में जाता है। मेरा अपना लिखना बहुत कम हो गया है। कई बार मेरे मन में यह विचार आता है कि अब पत्रिका बंद कर देनी चाहिए। इतने सारे मित्र पत्रिका निकाल रही रहे हैं। यहां आकर मैं इतने सारे लोगों को देख रहा हूं। मेरे मन में यह संकल्प मजबूत हुआ कि चाहे धीरे-धीरे ही सही साल में एक अंक ही सही, मुझे पत्रिका निकालते रहना है। सबसे पहले तो 'हरियाणा सृजन उत्सव' और 'देस हरियाणा' की पूरी टीम के संकल्प को नमन करता हूं। यह आप जबरदस्त काम कर रहे हैं।

मुझसे जो सवाल पूछा गया उस पर मुझे कविता की कुछ पंक्तियां ध्यान आ रही हैं - "हिन्दी का आखिरी कवि भी पुरस्कृत हो गया, कोई नहीं बचा।"

इस कविता में कवि विडंबना की तरफ इशारा कर रहा है। सारी सरकारें ऐप्रोपरिएशन का काम करती हैं। चाहे हमारा साहित्य हो, चाहे कलाएं हों, चाहे मीडिया हो, चाहे हमारी सांस्कृतिक रवायतें हो, सरकारें सबका अनुकूलन करना चाहती हैं। यह इसी सरकार की बात नहीं है। तमाम सरकारों की यह प्रवृत्ति रही है। मौजूदा सरकार यह काम जल्दी, क्रूर और भौंडे तरीके से हम पर थोपना चाहती है। इस वजह से इसका विरोध भी ज्यादा हो रहा है। पुरानी सरकारें भी दूध की धुली हुई नहीं थी। सही बात है कि आप एक तरफ तो साहित्यकारों को इनाम दे रहे हो, दूसरी तरफ पाठ्यक्रमों और समाज में से किताबें और साहित्य की जगह कम करते जा रहे हैं। मैं छोटा सा उदाहरण देता हूं। देश के सबसे बड़े विश्वविद्यालयों में से एक है - दिल्ली विश्वविद्यालय। उस विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय के बगल में एक छोटी सी किताब की दुकान होती थी। आज से पांच-छह साल पहले तक। उस दुकान पर हिन्दी की लगभग सभी लघु पत्रिकाएं मिल जाती थी। बड़ी पत्रिकाएं भी मिल जाती थी-'हंस', 'कथादेश' व 'ज्ञानोदय' सरीखी और छोटी-छोटी पत्रिकाएं भी मिल जाती थी। अचानक एक दिन दुकान बंद हो गई। हम सोच रहे थे कि इसका ठेका होगा। अब कोई और ठेका लेगा। लेकिन किसी को ठेका नहीं मिला। आपको जानकार आश्चर्य होगा कि दिल्ली विश्वविद्यालय में अब कोई किताब की दुकान नहीं है। यह जगह खत्म हो गई हमारी। उस दुकान से किताब लेकर आप पढ़ सकते थे। अच्छी लगे तो खरीद लें नहीं तो उठकर आ जाएं। यह सुविधा थी।

कोई भी सरकार विचार को पसंद नहीं करती। कोई भी सरकार ऐसे विचार को हरगिज पसंद नहीं करती, जो कि व्यवस्था का विरोध करने की ताकत देता हो। आप देखिए मैं छोटा सा उदाहरण और देता हूं। हमें सरकार की बजाय व्यवस्था और इससे भी बेहतर हमें पूंजीवादी व्यवस्था शब्द को काम में लेना चाहिए। यह शब्द थोड़ा पुराना हो गया हैं, लेकिन इस शब्द को समझना चाहिए। ऐसा किस्सा मैंने सुना कि धीरूभाई अंबानी ने अपने इंजीनियरों से कहा

कि हम मोबाइल का काम करना चाहते हैं। मैं चाहता हूं कि पोस्टकार्ड से सस्ता एसएमएस हो जाए। तब तो कोई मतलब है मोबाइल का और उसमें भी मैं कमाऊं। तो उनके इंजीनियरों ने कहा - यह कैसे संभव है। अंबानी ने कहा कि यह तुम्हारा काम है। और यह हो गया। इसका दूसरा पहलू देखिए इसके होने से क्या हुआ। इसके होने से हमारा चिट्ठी लिखना बंद हो गया। चिट्ठी लिखते थे तो सोचते और विचार करते थे। चिट्ठी के साथ-साथ विचार करने की प्रक्रिया समाप्त हो गई। जब मैं छोटा था तो चिट्ठी लिखता था। अपने घरवालों और रिश्तेदारों को चिट्ठी लिखता था। चिट्ठी में मैं जमाने भर की बातें लिखता था। आज किसी छठी-सातवीं कक्षा के विद्यार्थी को चिट्ठी लिखने के बारे में कहिए तो वह तीसरे-चौथे वाक्य में पूछेगा कि अब क्या लिखूं। यह स्थिति हो गई है।

आज हम ऐसे समाज की तरफ बढ़ रहे हैं, जो विचार विरोधी समाज है। इस समाज में साहित्य की क्या स्थिति होगी। यह अपने आप में विचारणीय है। यह स्थितियां तो रहेंगी। स्थितियां और ज्यादा खराब होंगी। सरकारें इनसे ज्यादा खराब आएंगी। भली सरकारों की उम्मीद तो करनी ही चाहिए, लेकिन है मुश्किल। तो ऐसे में हम क्या करें। हम लोग यह कर सकते हैं। मैं जो करता हूं, आपके साथ साझा करता हूं। मैं यह करता हूं कि जब भी मैं कोई बहुत अच्छी पत्रिका, किताब पढ़ता हूं तो अपने मित्रों के साथ साझा करने की कोशिश करता हूं। मैंने अपने छात्र जीवन में यह काम खूब किया, पूरे उत्साह के साथ किया। कोई लघु पत्रिका मुझे अच्छी लगी तो आस-पास घूम कर उसके सदस्य बनाए। 'समयांतर' नाम की पत्रिका है। एक बार मध्यप्रदेश की सरकार ने उस पर प्रतिबंध लगा दिया। मैं उदयपुर में रहता था, मुझे बहुत बुरा लगा कि पत्रिका पर प्रतिबंध क्यों लगाया। प्रतिरोध का क्या तरीका हो सकता है तो मैंने एक मित्र से बात की। हमने उदयपुर में 'समयांतर' के कई सदस्य बनाए। पुस्तक मेला आने वाला था। हमने 15-20 हजार रुपये सदस्यता के 'समयांतर' को दिए। हम यह कर सकते हैं। पहला काम तो यह करें कि किसी ना किसी एक साहित्यिक लघु पत्रिका की सदस्यता हम लें। आप शुरूआत 'देस हरियाणा' से कीजिए। दूसरा काम हम यह कर सकते हैं कि आस-पास के लोगों को जागरूक करने की कोशिश करें। साहित्य और संस्कृति की पत्रिका के बारे में बताएं। तीसरा सोशल मीडिया की पहुंच बहुत ज्यादा है। अपने अनुभव के बारे में बताता हूं। मेरी पत्रिका 'नॉटनल' पर उपलब्ध है। मैं सोचता था कि इस पर कौन देखता होगा। लेकिन जब दो-डेढ़ साल इन्होंने मेरी पत्रिका 'नॉटनल' पर रखी तो एक दिन अचानक इन्होंने मुझे अच्छा-खासा चैक भेजा। मैंने पूछा कि यह किस बात का है तो इन्होंने कहा कि आपकी पत्रिका को इतने सारे लोगों ने पढ़ा और उन्होंने जो पैसा दिया, यह वही है। मैंने आंकड़ा पूछा तो मेरे लिए हैरत की बात थी कि जितनी प्रतियां मैं छापता ही नहीं, उससे ज्यादा 'नॉटनल' पर देखने-पढ़ने वाले हो गए। सोशल मीडिया का अधिकाधिक प्रयोग करें। हिन्दी साहित्य की अच्छी से अच्छी पत्रिकाएं - हंस, कथादेश, अहा जिंदगी, युवा संवाद, बनासजन, देस हरियाणा सहित सभी पत्रिकाओं ने फेसबुक पर अपने अकाउंट बना रखे हैं। कुछ ने पेज भी बना रखे हैं। आप उनके पेज से जुड़िये। आपको निरंतर वहां पत्रिकाओं के बारे में अपडेट मिलते रहेंगे। देखिए सीधी सी बात है यदि हम अपने देश से प्रेम करते हैं। इसकी संस्कृति व विरासत से प्रेम करते हैं तो यह बात समझ लेनी पड़ेगी कि अमेरिका इन्हें नहीं बचाएगा। हमीं को बचाना होगा। कोई सरकार इन्हें नहीं बचाएगी। हमें ही प्रयास करने होंगे।

कृष्ण कुमार- हमारा विकास किस तरह से हमारे ज्ञान को उजाड़ रहा है। इससे बढ़िया उदाहरण संभवत: नहीं होगा। पाश कितने महत्वपूर्ण कवि रहे हैं। सब जानते हैं। बहुत बार यह देखा जाता है कि जिस सरकार की हम आलोचना करते हैं, कई बार पत्रिका में उसका विज्ञापन भी छपता है। क्या हमारा लोकतंत्र हमें इतनी असहमति की इजाजत देता है। या फिर यह वैचारिक विचलन है या फिर कहीं ना कहीं प्रबंधकीय दबाव हैं। आपने दैनिक भास्कर समूह की पत्रिका 'अहा जिंदगी' का दस साल संपादन किया। जरूर आप इस तरह के सवालों से रूबरू हुए होंगे।

आलोक श्रीवास्तव- मैं 'अहा जिंदगी' का संपादक था। करीब ढ़ाई महीने पहले मैंने छोड़ दिया है। दैनिक भास्कर समूह भी मैंने छोड़ दिया है। पत्रकारिता से पूरा विराम ले लिया है। 1991 से 96 तक 'धर्मयुग' में रहा मैं। फिर नवभारत टाइम के मुंबई संस्करण में और फिर 'अहा जिंदगी' में। विज्ञापन वाले सवाल पर बहुत शोध की जरूरत नहीं है। सब चीजें ऐसे तय नहीं होती हैं। चीजें बहुत बदल गई हैं। आज हमें बहुत व्यापक फलक में देखना होगा। उनके स्रोतों को देखना होगा। कारणों की तलाश करनी होगी। कारणों की श्रृंखलाओं को टटोलना पड़ेगा। तब जाकर हम वस्तुस्थिति का ठीक -ठीक आकलन करने और उसकी काट ढूंढ़ पाने में सक्षम होंगे। बहुत विस्तार में जाने का समय नहीं है।

संक्षेप में बता दूं कि पिछले तीस वर्षों का समाज है, जो भूमंडलीकरण के बाद का समाज है। भूमंडलीकरण की सतत प्रक्रिया का समाज है। उसने पिछड़े देशों में क्या किया है। उसने एशिया में क्या किया हैं। उसने हिन्दोस्तान में क्या किया है। यह सब बहुत गौर करने वाली चीजें हैं। मसलन जिस संचार क्रांति ने, साइबर क्रांति ने हिन्दोस्तान में बेतहाशा मीडिया की पकड़ मजबूत की, उसका प्रसार मजबूत किया। तीन तरह के रूप सामने आए-

टेलीविजन चैनल, प्रिंट मीडिया और डिजीटल। जब टेलीविजन का प्रसार हो रहा था, तब उस समय यह कहा जाता था कि अखबार खत्म हो जाएंगे। हकीकत यह सामने आई कि अखबार बहुत ज्यादा आ गए। जब हम पत्रिकाओं के संदर्भ में बात कर रहे हैं तो मैं मीडिया के व्यापक संदर्भों को छोड़ते हुए पत्रिका के बारे में बात करूंगा। जितने बड़े मीडिया घराने थे, उन्होंने पत्रिकाओं को समेट दिया। यह बात इस ढंग से फैली कि पाठक खत्म हो गए हैं। ऐसा नहीं हुआ है। टाइम्स ऑफ इंडिया भारत का सबसे बड़ा समूह है और भूमंडलीकरण का सबसे पहले और बड़ा असर उस पर पड़ा। सबसे ज्यादा फायदा उसने लिया। टाइम्स ऑफ इंडिया की पत्रिकाएं निकलती थी - धर्मयुग, सारिका, दिनमान, पराग। इन पत्रिकाओं की हिन्दी क्षेत्र में बहुत गहरी पहुंच थी। पकड़ और प्रभाव था। जब पत्रिकाएं 1990 के बाद से बंद होनी शुरू हुई। हम भारत के लोग विशेषकर हिन्दी क्षेत्र, भाषा, साहित्य के लोग थोड़ा ज्यादा भावुक होते हैं, हमने इसे हिन्दी विरोध के रूप में देखा। यह हिन्दी का विरोध नहीं था। अंग्रेजी की पत्रिकाएं भी बंद हुई। इलस्ट्रेटिड विकली थी, यूथ थी, सांईस टूडे थी, सब बंद हुई। दरअसल जो व्यापार का मॉडल बन रहा था, उसमें टाइम्स ऑफ इंडिया का टर्न ओवर सौ करोड़ सालाना से दस हजार-बीस हजार सालाना की ओर बढ़ रहा था। उस स्थिति में यह पत्रिकाएं चाहे दस लाख का प्रसार रखें, चाहे बीस लाख का प्रसार रखें। चाहे दस करोड़ का विज्ञापन लाएं, चाहे बीस करोड़ का। वह बहुत छोटा खेल है। इस कारण उन घरानों को वे पत्रिकाएं बंद करनी पड़ी। नतीजा यह हुआ कि पिछले 25-30 सालों में व्यापक प्रसार वाली पत्रिकाएं बंद हो गई।

हमारे समस्त हिन्दी क्षेत्र का जो यथार्थ हैं, वह यह हैं कि वह किसी महानगर में बसने वाला समाज नहीं है। चार पाठक छपरा में हैं तो दस पाठक आरा में हैं तो दस पाठक उत्तराखंड में हैं या किसी ओर कस्बे में हैं। बहुत फैला हुआ, बिखरा हुआ समाज है। इस पूरे हिन्दी बेल्ट में पत्रिकाओं की पहुंच हो सके, इसके लिए जिस व्यापक नेटवर्क की जरूरत थी, वह नेटवर्क टूट गया। जोकि बड़े कमर्शियल हाउसिस के पास था। फिर ले-देकर बची व्यक्तिगत प्रयासों से निकाली जाने वाली पत्रिका। यह व्यापक परिदृश्य हैं - हिन्दी की पत्रिकाओं का, साहित्यिक पत्रिकाओं का, उससे जुड़ी हुई चुनौतियों का, उसके प्रसार की कठिनाइयों का। इन सब चीजों पर थोड़ा यथार्थवादी ढंग से, थोड़ा बारीकी से सोचने-समझने की जरूरत है। मूल संकट भाषा, सोच, विचार व मानव सभ्यता का है।

करीब 1950 के आस-पास की बात है। हिन्दी के बड़े प्रसिद्ध कवि थे - कैलाश वाजपेयी। उनका एक गद्य का पीस छपा था। 1950-55 के दौरान वह यूरोप, अमेरिका के बहुत सारे विश्वविद्यालयों में पढ़ाते रहे। घूमते थे वे इन दिनों। पश्चिमी के बहुत बड़े बुद्धिजीवी थे - एल्डस हक्सले। उनसे कैलाश वाजपेयी की बातचीत हुई। तो उन्होंने इसका ब्यौरा लिखा है। ब्यौरे में यह है कि कैलाश वाजपेयी ने अमेरिकन उपभोक्तावाद-भौतिकतावाद की आलोचना की है। एल्डस हक्सले ने बहुत छोटा सा जवाब दिया - जो हमारे यहां आज हो रहा है। आपके यहां कल होगा।

पिछड़ा देश जब उपभोक्तवादी होता है तो किस तरह से वह उपभोक्तवादी होता है। यह मूल संकट है पूंजी का, निवेश का, उससे निर्मित संस्कृति का। यह चक्र यूं ही चलते रहना है, आने वाले 20-25 वर्षों तक। इसी में से इसकी काट भी निकलनी है। हम लोग इसकी काट निकालने, चिंगारियां निकालने व राख हटाने का काम करने वाले थोड़े बहुत लोग हैं। यह काम ज्यादा मुस्तैदी और कारगर ढंग से कर सकें, इसके लिए हमें अपनी सोच को और व्यापक करने की जरूरत है।

कृष्ण कुमार- यदि हम अपने आस-पास की दुनिया को गौर से देखें तो वह तकनीकी कृत हो चुकी है। उसे समझने के लिए हमें वैज्ञानिक सोच की जरूरत है। 'हंस' में मैंने दलित साहित्य पर बहुत सी कहानियां देखी। नारी-विमर्श पर बहुत सी कहानियां देखी। वैज्ञानिक विषयों पर कहानियां लिखना बहुत महत्वपूर्ण विषय है ताकि पाठक अपने आस-पास की दुनिया को अच्छी तरह से समझ पाएं। नहीं तो होता ये है कि दुनिया बदल जाती है और हम उसी तरह से जी रहे होते हैं।

विभास वर्मा - इसका जवाब मैं दो तरीके से दूंगा। पहला तो जवाब में मैं सवाल पूछूंगा कि आपने किस पत्रिका में वैज्ञानिक कहानियां देखी हैं। यह मेरा जवाब का ही तरीका है। आप जो कह रहे हैं, वह सही बात है। वैज्ञानिक किस्म की कहानियां हिन्दी में लिखी ही कम गई हैं। दरअसल कहानियां निकलती हैं हमारे समाज से और हमारे समाज में वैज्ञानिक सोच व विज्ञान के प्रति सकारात्मक रवैया हमारी जीवन शैली में रचा-बसा नहीं है। जब तक यह रवैया जीवन शैली में नहीं रचेगा, तब तक वैज्ञानिक कहानियां अजूबे की तरह लिखी जाएंगी। उस तरह से नहीं लिखी जाएंगी, कि जिस तरह दूसरी कहानियां हमारे जीवन को छूती हैं, मुद्दों से संबद्ध होती हैं। जब वैज्ञानिक चेतना का प्रसार हमारे अंदर शुरू होगा, तब अच्छे किस्म की वैज्ञानिक कहानियां आएंगी। मुझे लगता है कि बहुत कम कहानियां हिन्दी में उस तरह की हैं।

'हंस' में नहीं आई हैं तो इसका दूसरा जवाब यह हो सकता है कि 'हंस' को इस तरह की कहानी लिखकर किसी ने भेजी नहीं है। बहुत कम ऐसा होता है कि हम किसी को कहते हैं कि आप इस तरह की कहानी लिखें। लेकिन पहले कहानी का ट्रेंड रचनाकारों से ही

बनता है। यह सही बात है कि दलित कहानियों को 'हंस' ने व्यापकता दी। शुरूआत 'हंस' से शायद नहीं हुई थी। मराठी साहित्य का असर था कि यहां के साहित्यकारों ने दलित कहानियां लिखना शुरू किया। 'सारिका' के एक अंक में कमलेश्वर ने दलित कहानी पर छापा था। लेकिन दलित कहानियों को नियमित रूप से जगह देने की शुरूआत 'हंस' ने की। तब वे 'हंस' के साथ नहीं जुड़े थे, राजेन्द्र जी से 'संगमन' के उत्सव में ओमप्रकाश वाल्मिकी मिले। वहां पर दलित कहानियों के प्रकाशन के सवाल पर राजेन्द्र यादव जी ने हर अंक में कम-से-कम दो कहानियां दलित विषय पर निकालने की बात की। यह भी तय किया कि बाकी जगह गुणवत्ता का प्रतिमान सख्ती से लागू किया जाएगा, लेकिन दलित कहानी की गुणवत्ता परखने के मानदंड अभी बने नहीं हैं, इसलिए उन्हें स्थान दिया जाएगा। यह बात अर्चना जी ने मुझे बताई थी। लेकिन पहले वे कहानियां आई तो प्रकाशित हुई। वैज्ञानिक कहानियां भी यदि आएंगी तो 'हंस' व दूसरी पत्रिकाओं में भी उन्हें जगह मिलेगी।

मोनिका भारद्वाज- तमाम उपलब्धियां आपने गिनाई बावजूद जो हाल के दिनों में पत्रिकाओं में जो चीजें उभर कर आ रही हैं। वे वाकई खेदजनक हैं। एक बात और जो आपने बताई कि साहित्य के पाठक बहुत कम होते हैं, उसका एक कारण मुझे यह लगता है कि जो लघु पत्रिकाओं में व्यक्ति-चालिसाएं छपती हैं, विज्ञापन छपते हैं। उसे जीविकोपार्जन का साधन बनाया जा रहा है। उसमें क्रिएटिविटी कम हो रही है और मुनाफा ज्यादा देखा जा रहा है। शायद इसलिए लघु पत्रिकाओं के पाठकों की संख्या कम हो रही है। उस पर कैसे नकेल कैसे कसी जा सकती है।

पल्लव- सबसे पहले तो मैं उस दिन सबसे ज्यादा खुश होऊंगा, जबकि 'देस हरियाणा' इतनी बिकने लगे, इतने लोग पढ़ने लगें कि सुभाष जी को नौकरी करने की जरूरत ना रह जाए और वे आराम से जीवन जीएं। दूसरी बात - हिन्दी में एक भी पत्रिका नहीं है, जिसके दम पर उसका संपादक अपना व अपने परिवार का गुजारा कर सके। आपका यह आरोप पूरी तरह से निराधार है। हिन्दी में मुश्किल से 300-400 पत्रिकाएं निकल रही हैं। यह आपके विवेक पर निर्भर करता हैं कि आप 'देस हरियाणा' व 'अभियान' को पत्रिका मानते हैं या किसी सस्ती-बाजारू पत्रिका को मानते हैं। हां यहां आपकी बात से सहमत हूं कि हमारे समाज को, पढ़ने-लिखने वाले लोगों को अच्छी पत्रिकाओं के बारे में ज्यादा-से-ज्यादा बताएं ताकि उनका विवेक मजबूत हो सके।

आलोक श्रीवास्तव - आपने दो चीजें मिक्स कर दी। आपका सवाल बहुत संजीदा और मेरे नजरिये से हिन्दी क्षेत्र की रचनात्मकता का अहम सवाल है। हालांकि आपने जिस पुड़िया में उसे लपेटा वह गैर जरूरी थी। पत्रिका के मुनाफे वाला, जिसका जवाब दे दिया गया है। पत्रिकाओं में मुनाफे के कारण क्रिएटिविटी पर असर नहीं पड़ रहा है। हां यह बहुत चिंता की बात है। हिन्दी की क्रिटिविटी किस दौर से गुजर रही है। तमाम पत्रिकाओं में किस तरह की रचनाएं सामने आ रही हैं। मेरा 25 साल का हिन्दी पत्रकारिता का ओब्जर्वेशन है कि हमने कविता, कहानी, आलोचना, उपन्यास के खांचे बना लिए हैं। स्टीरियोटाइप बना लिए हैं। इनके भीतर अच्छे किस्म की रचनाएं लिखी जा रही हैं और छप रही हैं। लेकिन ऐसी रचनाएं, जो पाठक के दिमाग में उजाला पैदा कर दें, एक रोशनी का विस्फोट कर दें, एक नए मनुष्य का रूपांतरण कर दें, जीवन के बारे में किसी एक दृष्टिकोण से दिखा दें, जो उसने नहीं देखा था, वे नहीं आ रही हैं। हमारा लेखक वर्ग बहुत सुविधाजीवी है। वह प्रेमचंद के जमाने से बहुत आगे निकल आया है। उस पर कोई आरोप नहीं है। ना ही मैं किसी मसीहाई अंदाज में बोल रहा हूँ, लेकिन हिन्दी के वास्तविक लेखक व कवि अभी नेपथ्य में पड़े हैं। शायद कोई आंदोलन या आने वाला समय उनको सामने की कतारों में ला देगा। इसलिए आपके सवाल का मैं अभिनंदन करता हूं और धन्यवाद देता हूं।

प्रश्न - हम जो आम पाठक हैं या आम सृजनकर्मी हैं। हमारे दिमागों में रहता हैं कि इसने अवार्ड ले रखा है, तो बड़ा लेखक है। जिन सत्ताओं को लताड़ने का काम करते हैं, उन्हीं से हम पुरस्कार भी पाते हैं।

विभास वर्मा - आप दो चीजों को आपस में मिला रहे हैं। लेखक समाज अलग समाज हैं। पत्रकारिता का एक अलग ढांचा हैं, हालांकि वह उसी में से पैदा होता है। पुरस्कारों को लेकर यह कहा जा सकता है। जैसे मैं 'हंस' का उदाहरण दूं। 'हंस' में बहुत सारे विज्ञापन ऐसे विज्ञापन छपते हैं, सरकारों के छपते हैं, जिनकी नीतियों की आलोचना 'हंस' में होती है। इसको लेकर एक दुविधा हमारे मन में बनी रहती है। एक तो विज्ञापन के स्रोत बहुत कम हैं। दूसरे सरकार ऐसे विज्ञापन बनवाती हैं, कि वह पार्टी का प्रचार हो जाता है। सरकारी विज्ञापनों में प्रशासनिक योजनाओं का विज्ञापन होना चाहिए। वह जनता का पैसा है। वह उनका पार्टी फंड का पैसा नहीं है। वह पैसा किसी और काम में लगे, उस पर हम अपना अधिकार क्यों ना मानें। यह बात हम जानते हैं कि पाठकों को यह देखकर अजीब लगता होगा। यह दुविधा हमारे यहां बनी रहती है। अभी भी इससे उबरने का कोई जरिया नहीं है। वैकल्पिक स्रोत का अभाव है। पत्रिकाएं उस तरह से नहीं निकल सकती है। या तो आप पूरी तरह से डिजीटल हो जाएं। जितनी पत्रिकाएं बिकती हैं, उसके हिसाब से पत्रिका का कभी भी खर्चा नहीं चल सकता है। यह अन्तर्विरोध बना

हुआ है। बड़ी कंपनियां साहित्यिक पत्रिकाओं को विज्ञापन नहीं देती हैं। उनको लगता है कि इनकी प्रसार संख्या बहुत कम हैं। यह एक दुष्चक्र है कि प्रसार संख्या बढ़ाने के लिए आपको विज्ञापन चाहिए और प्रसार संख्या कम होने के कारण विज्ञापन नहीं मिलता है। लेकिन हमें वितरण-तंत्र विकसित करने की जरूरत है। यह सामूहिक प्रयासों से ही हो सकता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय में पल्लव जी ने यह शुरूआत की। एक स्थान पर पत्रिकाएं रखनी शुरू कर दी और अन्य पत्रिकाओं के लोगों को भी उस स्थान की सूचना दी। फेसबुक पर उसकी सूचना दे दी। मेज के आकार का खोखा है। आज वह पत्रिकाओं का एक अड्डा बन गया है। बड़ी या छोटी जो भी पत्रिकाएं आती हैं, वहां मिल जाती हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को पता है कि यहां पत्रिकाएं मिल जाती हैं। इस प्रकार के और भी प्रयास हमें करने पड़ेंगे कि कैसे दूर तक पत्रिका मिल सके। अनेक प्रकार की शिकायतें मिलती हैं कि पत्रिका का अंक नहीं मिला और हम परेशान होते हैं। डाकखाने को भी शिकायतें भेजते हैं। एक बार पता चला कि डाकखाने से पहले ही पत्रिकाएं कोई ले जाता था। हमने शिकायत की। पुरस्कार को लेकर लेखकों की अपनी समस्याएं हैं।

डॉ. ए.के. अरुण- 'युवा संवाद' को मिलने वाला विज्ञापन पिछले एक साल से बंद है। गैर-आधिकारिक तौर पर हमें बताया कि इसमें आप सरकार का तो कुछ छापते ही नहीं। हमने कहा कि हम पत्रिका 15 साल से छाप रहे हैं, कभी भी नहीं छापा। लोगों की चीज है, हम उस पर कायम हैं। तो उन्होंने कहा कि भूल जाईये। तो हमने उनका विज्ञापन लेना बंद कर दिया। हमें आपकी जरूरत है। एक लघु पत्रिका को यदि पांच हजार भी ग्राहक मिल जाएं तो पत्रिका मुल्क में बड़ा काम कर देगी।

प्रो. जोगा सिंह- जब जीवन के क्षेत्रों से भाषाएं ही गायब हो रही हैं तो पत्रिकाएं कहां बचेंगी। हिन्दी भाषा के प्रेमी जब बात भी करते हैं तो उनकी यह चिंता रहती है कि बेंगलुरू व चेन्नई की मेट्रो में हिन्दी में लिखा जाए, लेकिन हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी का क्या बन रहा है, इसके बारे में किसी को कोई चिंता नहीं है। स्कूलों में जब शिक्षा का माध्यम हिन्दी होगी, तब पत्रिकाएं बचेंगी। पिछले कुछ सालों में अनेक हवाई अड्डों पर मैंने हिन्दी की कोई पुस्तक नहीं देखी। दिल्ली के अन्तर्राज्जीय बस अड्डे पर भी अब हिन्दी की किताबें नहीं मिलती। पत्रिकाओं का मध्यवर्गीय पाठक भारतीय भाषाओं को छोड़ चुका है। इसलिए नहीं कि पत्रिकाओं की संख्या बढ़े, बल्कि भारत को बचाने के लिए भाषाओं को बचाना चाहिए। जहां तक पाठकीयता का सवाल है कि पाठक नहीं मिलते, मुझे इस बात पर संदेह है। मैंने 2013जून में मैंने एक छोटी सी पुस्तिका लिखी। तीन सालों में 9 भारतीय भाषाओं में उसका अनुवाद हो गया है। कितनी ही पत्रिकाओं में वह छप चुकी है। लेकिन उन 20 पन्नों के लिए मुझे सात साल लगे थे। सात साल के अन्वेषण के बाद वह लिखी गई। जीवन के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं को बचाने की जरूरत है। दूसरी बात, जो प्रामाणिक भाषा होती है, उसमें सब पत्रिकाएं होती हैं। जैसे 'देस हरियाणा' में हरियाणवी का छोटा हिस्सा आ जाता है। मैं तो उसे मुर्दा भाषा मानता हूँ। वह जो प्रामाणिक भाषा होती है, वह औपचारिक संवाद की भाषा होती है। जो औपचारिक विषय होगा, उसे लोग पढ़ भी लेंगे। असली जिंदा भाषाएं तो उपभाषाएं हैं। इसलिए गुरदयाल सिंह को पढ़ा जाता है। फणीश्वरनाथ रेणू व प्रेमचंद को इसलिए पढ़ा जाता है। इसलिए इस पर ध्यान देने की जरूरत है कि राजस्थानी, गढ़वाली आदि को भाषाओं के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए।

विभास वर्मा- भारतीय भाषाएं समाप्त हो रही हैं। इसके बारे में हमें सोचना चाहिए। औपचारिक अनौपचारिक भाषा के बारे में कहना चाहूंगा कि विमर्श की भाषा हो सकता है औपचारिक हो। लेकिन साहित्य में आज जो प्रवृत्ति है, जिसे गंभीर या बनावटी भाषा की रचनाओं को पाठक रिजेक्ट करता है। हो सकता है उसमें बोलियों का असर रेणू जैसा ना हो, लेकिन फिर भी उसमें आम बोलचाल की भाषा को ही पाठक पसंद करते हैं। एक संपादक होने के नाते मैं इसका जिक्र कर सकता हूं। 'हंस' में जो कहानियां छपती हैं, उनमें बोलियों का बहुत असर होता है। औपचारिक भाषा में जब हम बात करते हैं तो जैसे हम अपने आप से ही बात कर रहे हों, या खुद को समझाने की कोशिश कर रहे हों। हम लोगों से संवाद स्थापित करना चाहते हैं या नहीं। यह पहला मुद्दा होना चाहिए। पठनीयता के ह्रास के बारे में मैंने यह कहा।

बोलियां बचेंगी तो हिन्दी बची रहेगी। बोलियां वह जड़ हैं, जहां से हिन्दी प्राण लेती है। अंग्रेजी वह जड़ नहीं है। हिन्दी का प्राण रस बोलियां हैं। इसलिए बोलियां बनाम हिन्दी को हिन्दी बनाम अंग्रेजी की तरह एक वर्ग उभारने की कोशिश करता है। लेकिन उसकी बहुत गलत समझ है। हिन्दी बनाम अंग्रेजी एक अलग युद्ध क्षेत्र है। हिन्दी बनाम भारतीय बोलियां छद्म युद्ध है। बोलियों को बचाने की बहुत ज्यादा जरूरत है। तद्भव भाषा ही वास्तव में हिन्दी भाषा है। तद्भवता को हम आशय के साथ समझौता ना करें। मुझे लगता है कि हिन्दी बनती हुई भाषा है। इसमें कैसे ज्यादा अर्थ पैदा हो सकें। उसके प्रयत्न करते रहने चाहिए।

आलोक श्रीवास्तव- आपका सवाल इतना संजीदा है कि सवाल भाषा का नहीं भारत को बचाने का सवाल है। इस पर मैं अनौपचारिक ढंग से दो बातें कहना चाहूंगा कि अंग्रेजी बनाम हिन्दी

से भी बहुत आगे समय आ चुका है। अंग्रेजी हिन्दोस्तान की गहरी नीवों में धंस चुकी है और धंसी रहेगी। अब सवाल दूसरा है कि क्या अंग्रेजी सीखने के लिए हिन्दी भूलना जरूरी है। क्या एक भाषा दूसरी भाषा की विरोधी होती है। हम अपनी मातृभाषाओं के साथ, मैं अपना सवाल वहीं जोड़ता हूं, भारत में साम्यवाद से लेकर और हमारी समझ से लेकर, भाषा, साहित्य से लेकर सभी चीजों पर मेरी सुई एक ही जगह पर टिकती है कि जब एक पिछड़ा समाज उपभोक्तावाद सहित नई अवधारणाओं को ग्रहण करता है तो उसे अपने पिछड़ेपन में रूपांतरण करके अपने ढंग से अपना संस्करण बना लेता है। पिछले तीस वर्षों से मैं हिन्दी के हजारों लेखकों के घर गया हूँ। हिन्दी के लेखकों की संख्या बहुत बड़ी है। बहुत दुर्लभ ढंग से मुझे हिन्दी लेखकों के घरों में हिन्दी भाषा के प्रति अगली पीढ़ियों में अल्पतम रुचि के दर्शन हुए हैं। बहुत बार लड़ाइयां हमारे सामने होती हैं।

भाषा के सवाल पर मुझे अपने सामने दो मोर्चे दिखाई देते हैं। घरों में हम हिन्दी पठन-पाठन की संस्कृति को बचा पा रहे हैं या नहीं बचा पा रहे हैं। इसके लिए विशेष प्रयत्न की जरूरत होती है। यह आसान मोर्चा नहीं है। इसको लेकर लेखकों में कितनी संवेदनशीलता है यह बहुत जरूरी बात है। दूसरा यह राजनैतिक विषय है। पिछले 20-25 सालों से गली-गली उग आए अंग्रेजी स्कूलों ने ऐसा माहौल बनाया है कि आपको अपनी मातृभाषा व हिन्दी में नहीं बोलना है और ना ही बातचीत करनी है। यह पूरी तरह से राष्ट्रद्रोह का काम है। मैं यह नहीं कहता कि अंग्रेजी माध्यम में पढ़ाई ना हो, लेकिन हिन्दी पर जो प्रतिबंध लगे हैं, उन प्रतिबंधों को हटाना होगा। उन स्कूलों के मानस को बदलना पड़ेगा।

ऋषिकेश राजली- कई बार देखते हैं कि पत्रिकाओं के सदस्य अलग जगह खड़े होते हैं और जिनके लिए पत्रिका निकाल रहे हैं, वे अलग दिखाई दे रहे हैं। किस तरह से पत्रिकाओं को जन-संगठनों से जोड़ा जाए। यदि संगठन के नेता यह कह दें कि पत्रिका अपने विचारों को आगे बढ़ाने वाली है तो उस पत्रिका का ज्यादा प्रचार-प्रसार हो सकता है और वे पत्रिकाएं घर-घर पहुंच सकती हैं।

दूसरा वैचारिक पत्रिकाओं के चक्कर में छोटे-छोटे गांवों के नवोदित रचनाकारों को जगह नहीं मिल पाती। संपादक नवोदित रचनाकारों की रचनाएं छापने में संकोच करते हैं कि कहीं पत्रिका का स्तर ना गिर जाए। तो नवोदित रचनाकारों को पत्रिकाएं कैसे जोड़ सकती हैं।

सुरेंद्र भारती- अभियान निकाल रहे हैं पिछले 30 सालों से। सौवां अंक निकल चुका है। दो हजार से तीन हजार से प्रतियां हर अंक की निकालने की कोशिश रहती है। 10वें या 12वें अंक में फैसला किया कि संपादक नहीं रहेगा, संपादक मंडल रहेगा। फिर फैसला लिया कि अभियान में कोई भी विज्ञापन नहीं दिया जाएगा। कई बार ऑफर हुई। लेकिन हमने नीति बनाकर विज्ञापन नहीं छापने का निर्णय लिया। उसके बाद भी जनता की पत्रिका जनता के सहयोग से निकल रही है। मेरे दो प्रश्न हैं- एक तो विभास जी ने जो बात रखी है, उससे मैं उलझ गया हूं। अभियान पर आक्षेप लगता है कि नीरस पत्रिका है। कभी अभियान ने जनता के अलावा किसी से कोई सहयोग नहीं लिया। अभियान में नीरसता है। व्याकरण की गलतियां है। कई चीजों को ठीक करने की कोशिश करते हैं। क्या शब्दों के साथ पत्रिका में चित्र डालने की जरूरत नहीं है।

विभास वर्मा- नवोदित रचनाकारों तक पत्रिका कैसे पहुंचे। 'हंस' में कई लोग नए छपते हैं। मुबारक पहला कदम करके हमने किताब छापी, जोकि किसी लेखक की पहली रचना को 'हंस' ने स्थान दिया। नए लिखने वालों को कई बार भेजने का पता नहीं होता कि कैसे भेजें। पत्रिका में पेज की भी सीमा होती है। संपादक के विवेक पर भी काफी कुछ निर्भर करता है। एक पत्रिका में ना छपे नवोदित लेखक तो उसे दूसरी पत्रिका के लिए कोशिश करते रहना चाहिए।

मैंने यह नहीं कहा था छवि से ज्यादा शब्द महत्वपूर्ण होते हैं। मैं विमर्श के बारे में कह रहा था। जो विमर्श टेलीविजन में जो टॉक शो चलते हैं, उसमें वह गहराई नहीं आ सकती, जो लिखे हुए में आ सकती है। टॉक शो की अपनी सीमा होती है। छवि के रूप में, कहानी के रूप में व सिनेमा की प्रकृति ही अलग-अलग है। मीडियम ही अलग-अलग हैं। किसी भी समस्या पर जब आप विचार करते हैं। लिखित पठित में विचार करने में बहुत अवकाश मिलता है। चीजों को समझने में लेखक समय देता है। आप खाने के साथ टीवी देख सकते है। खाने के साथ गंभीर चीज पढ़ी नहीं जा सकती।

संपादक को यह अधिकार होना चाहिए कि चूड़ियां पहन रखी हैं - जैसे वाक्य को काट दे। पत्रिका की वैचारिक समझ में फिट नहीं होने वाली बात को नहीं छापा जा सकता। रचनाकार को कह कर बदलाव किया जा सकता है। रचनाकार को बताए बिना बदलाव नहीं किया जा सकता। रचनाकार यदि उसकी अनुमति नहीं देता है तो भी आप ऐसा नहीं कर सकते हैं। रचनाकार के पास उसका कॉपीराइट है। आपके पास कॉपीराइट नहीं है। यदि रचनाकार नहीं मानता है तो आप उसे ना छापिये। आप जनता की दूसरी चीज छापिये।

सम्पर्क: 9416260940

धर्म की आड़

□ गणेश शंकर विद्यार्थी

इस समय, देश में धर्म की धूम है। उत्पात किए जाते हैं, तो धर्म और ईमान के नाम पर और जिद्द की जाती है तो धर्म और ईमान के नाम पर। रमुआ पासी और बुद्धू मियां धर्म और ईमान को जानें या न जानें, परंतु उसके नाम पर उबल पड़ते हैं और जान लेने और जान देने के लिए तैयार हो जाते हैं। देश के सभी शहरों का यही हाल है। उबल पड़ने वाले साधारण आदमी का इसमें केवल इतना ही दोष है कि वह कुछ भी नहीं समझता-बूझता और दूसरे लोग उसे जिधर जाने देते हैं, उधर जुत जाता है। यथार्थ दोष है, कुछ चलते-पुरजे, पढ़े-लिखे लोगों का, जो मूर्ख लोगों की शक्तियों और उत्साह का दुरुपयोग कर रहे हैं कि इस प्रकार, जाहिलों के बल के आधार पर उनका नेतृत्व और बड़प्पन कायम रहे। इसके लिए धर्म और ईमान की बुराइयों से काम लेना उन्हें सबसे सुगम मालूम पड़ता है। सुगम है भी।

साधारण से साधारण आदमी तक के दिल यह बात अच्छी तरह बैठी हुई है कि धर्म और ईमान की रक्षा के लिए प्राण तक दे देना वाजिब है। बेचारा साधारण आदमी धर्म के तत्वों को क्या जाने? लकीर पीटते रहना ही वह अपना धर्म समझता है। धर्म और ईमान के नाम पर किए जाने वाले इस भीषण व्यापार के रोकने के लिए, साहस और दृढ़ता के साथ, उद्योग होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक भारतवर्ष में नित्यप्रति बढ़ते जाने वाले झगड़े कम न होंगे।

धर्म की उपासना के मार्ग में कोई भी रुकावट न हो। जिसका मन जिस प्रकार चाहे, उसी प्रकार धर्म की भावना को अपने मन में जगावें। धर्म और ईमान, मन का सौदा हो, ईश्वर और आत्मा के बीच का संबंध हो, आत्मा को शुद्ध करने और ऊंचे उठाने का साधन हो! वह किसी दशा में भी, किसी दूसरे व्यक्ति की स्वाधीनता के छीनने या कुचलने का साधन न बने। आपका मन चाहे, उस तरह का धर्म आप मानें और दूसरे का मन चाहे, उस प्रकार का धर्म वह माने। दो भिन्न धर्मों के मानने वालों के टकरा जाने के लिए कोई भी स्थान न हो। यदि किसी धर्म के मानने वाले कहीं जबरदस्ती टांग अड़ाते रहें, तो उनका इस प्रकार का कार्य देश की स्वाधीनता के विरुद्ध समझा जाए।

देश की स्वाधीनता के लिए जो उद्योग किया जा रहा था, उसका वह दिन निःसंदेह अत्यंत बुरा था, जिस दिन स्वाधीनता के क्षेत्र में खिलाफत, मुल्ला, मौलवियों और धर्माचार्यों को स्थान देना आवश्यक समझा गया। इस प्रकार से उस दिन हमने स्वाधीनता के क्षेत्र में, एक कदम पीछे हटकर रखा था। अपने उसी पाप का फल आज हमें भोगना पड़ रहा है। देश की स्वाधीनता के संग्राम ही ने मौलाना अब्दुल बारी और शंकराचार्य को देश के सामने दूसरे रूप में पेश किया, उन्हें अधिक शक्तिशाली बना दिया और हमारे इस काम का फल यह हुआ है कि इस समय, हमारे हाथों ही से बढ़ाई इनकी और इनके से लोगों की शक्तियां जड़ से उखाड़ने और देश में मजहबी पागलपन, प्रपंच और उत्पात का राज्य स्थापित कर रही हैं।

महात्मा गांधी धर्म को सर्वत्र स्थान देते हैं। वे एक पग भी धर्म के बिना चलने के लिए तैयार नहीं। परंतु उनकी बात ले उड़ने से पहले, प्रत्येक आदमी का कर्तव्य यह है कि वह भली-भांति समझ ले कि महात्मा जी के धर्म का स्वरूप क्या है? धर्म से महात्मा जी का मतलब धर्म के ऊंचे और उदार तत्वों का ही हुआ करता है। उनके मानने में किसे एतराज़ हो सकता है। अजां देने, शंख बजाने, नाक दबाने और नमाज पढ़ने का नाम धर्म नहीं है। शुद्धाचरण और सदाचार ही धर्म के स्पष्ट चिन्ह हैं। दो घंटे तक बैठकर पूजा कीजिए और पंच-वक्ता नमाज भी अदा कीजिए, परंतु ईश्वर को इस प्रकार की रिश्वत दे चुकने के पश्चात यदि आप अपने को दिन-भर बेईमानी करने और दूसरों को तकलीफ पहुंचाने के लिए आज़ाद समझते हैं तो इस धर्म को अब आगे आने वाला समय कदापि नहीं टिकने देगा।

अब तो आपका पूजा-पाठ न देखा जाएगा, आपकी भलमनसाहत की कसौटी केवल आपका आचरण होगा। सब के कल्याण की दृष्टि से, आपको अपने आचरण को सुधारना पड़ेगा और यदि आप अपने आचरण को नहीं सुधारेंगे, तो नमाज और रोज़ पूजा और गायत्री आपको देश के अन्य लोगों की आज़ादी को रौंदने और देश भर में उत्पातों की कीचड़ उछालने के लिए आज़ाद न छोड़ सकेगी। ऐसे धार्मिक और दीनदार आदमियों से तो, वे ला-मजहब और नास्तिक आदमी कहीं अधिक अच्छे और ऊंचे हैं, जिनका आचरण अच्छा है, जो दूसरों के सुख-दुख का ख्याल रखते हैं और जो मूर्खों को किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिए उकसाना बहुत बुरा समझते हैं। ईश्वर इन नास्तिकों और ला-मजहब लोगों को अधिक प्यार करेगा और वह अपने पवित्र नाम पर अपवित्र काम करने वालों से यही कहना पसंद करेगा, 'मुझे मानो या न मानो, तुम्हारे मानने से ही मेरा ईश्वरत्व कायम नहीं रहेगा, दया करके, मनुष्यत्व को मानो, पशु बनना छोड़ो और आदमी बनो।

शब्द हमें बेसहारा नहीं होने देतेः सुरजीत पातर

□ कपिल बतरा

पंजाबी के प्रसिद्ध रचनाकार एवं पद्मश्री सुरजीत पातर ने 'हरियाणा सृजन उत्सव' का उद्घाटन किया। उन्होंने प्रदेश भर से आए सृजनकारों को धरती से जुड़ने का आह्वान किया। 'अमड़ी मैंनू आखण लगी, तू धरती का गीत रहवेंगा, तू पद्मश्री होके भी मेरा सुरजीत रहवेंगा'। पंजाबी कहावत के ज़रिए बोलचाल के असर को बताते हुए कहा कि उन्होंने अपने एक शेर- 'संताप को गीत बना लेना मेरी मुक्ति दा एक राह तो है- के ज़रिए लफ़्ज़ों की महत्ता को प्रतिपादित किया।

बंदा अन्न-पाणी से नहीं बल्कि बोल-बाणी से भी पलता है।

शब्द एक पावन चीज़ है। शब्द हमें बेसहारा नहीं होने देते। पातर ने अपनी गज़ल 'उदास दोस्तों आवो मिलके खुश होइए, मिलण बगैर उदासी दा कोई चारा नहीं' के ज़रिए आपसी मेलजोल का अहसास कराया। उन्होंने ख़लील ज़िब्रान का वाक्य उद्धृत करते हुए कहा कि 'हमारे महान गायक वे हैं जो हमारी ख़ामोशियों को गाते हैं।' इसके अलावा पद्मश्री सुरजीत ने 'मैं यहां हूं रात को रात समझने वाला, है कोई यहां मेरी बात समझने वाला'

लेखक-साहित्यकार समाज की आंख होते हैं। शब्दों के माध्यम से वे समाज के उपेक्षित लोगों के दर्द को बयां करते हैं। गूंगे लोगों की आवाज बनते हैं। कला और साहित्य हर समय में यह काम करते आए हैं। बुल्लेशाह, कबीर, फरीद, नानक सहित रचनाकारों ने अपने समय की चुप्पी को तोड़ा। कला और साहित्य कभी भी खामोश नहीं होते। वे अपने कहने का तरीका बदल सकते हैं।

संघर्षों की धरती पंजाब खुदकुशियों की धरती कैसे बन गई। संघर्ष, बलिदान, ख़ुदकुशियों की धरती तब बनती है जब इन्सान खुद को अकेला महसूस करने लगता है। ऐसी परिस्थितियों में साहित्य और कविता की ज़िम्मेदारी शुरू होती है। बातों और ख़यालों में रोशनी का होना ज़रूरी है। रचनाकार देश व समाज की आत्मा बुनते हैं। आज रचनाकारों और कलाकारों की जिम्मेदारी है कि वे अपने सृजन को जनता के साथ जोड़ें ताकि वह संघर्षों में अपने आप को अकेला महसूस ना करे। शायरी का काम बंदे को पत्थर व मशीन बनने से बचाना और उसके अहसास को ज़िन्दा रखना है।

किदर गया

होंदा सी इत्थे शख़्स इक सच्चा किदर गया
इस पत्थरां दे शहर चों शीशा किदर गया।
जद दो दिलां नूं जोड़दी एक तार टुट गई,
साजिंदे पुछदे साज नूं नग़मा किदर गया।
सब नीर गंदले शीशे धुंधले होए इस तरह
हर शख़्स पुछदा ए मेरा चेहरा किदर गया।
सिक्खां, मुसलमाना अते हिंदुआं दी भीड़ विच
रब ढूंढ़दा फिरदा, मेरा बंदा किदर गया।
दु:ख दी ज़मीं नूं उठके अरशां ते पहुंच के
धूआं खला नू पूछदा अल्लाह किदर गया।
पातर नूं जाण-जाण के पूछदी है आज हवा
रेतां ते तेरा नाम सी लिख्या किदर गया।

पत्थर हो गया

एक लरज़ता नीर सी ओ मर के पत्थर हो गया
दूसरा इस हादसे तों डर के पत्थर हो गया
तीसरा इस हादसे नूं करण लग्गा सी बयान
ओ किसे पत्थर दे घूरण करके पत्थर हो गया
एक शायर बच रह्या संवेदना संग लरजदा
इन्ने पत्थर ओ तां गिणती करके पत्थर हो गया

\- - -

कुछ किहा तो हनेरा जरेगा किवें,
चुप रिहा तो शमादान कि कहणगे।
गीत दी मौत जे इस रात हो गई,
मेरा जीणा मेरे यार किंझ सहण गे।

संपर्क –8168279127

ठेठ भारतीय आधुनिकता के सृजन की चुनौती

□ योगेंद्र यादव

मुझे अक्सर लगता है कि मेरे जैसे लोगों को उन विषयों पर बोलने के लिए बैठा दिया जाता है जिन पर मेरे पास बोलने को कुछ विशेष नहीं है। मुझसे अपेक्षा की जाती है कि ऐसा ज्ञान दूँ जो मेरे जैसे लोगों के पास होता नहीं है। ना तो मैं सांस्कृतिक आलोचक हूँ और न ही इतिहासकार। कायदे से मेरे जैसे व्यक्ति को पीछे बैठकर सुनना और समझना चाहिए, और कभी कभार कोई जिज्ञासा हो तो संस्कृतिकर्मियों के सामने रखनी चाहिए।

लेकिन आपने मौका दिया है तो कुछ बातें और चिंताएं अवश्य साझी करना चाहूँगा। पिछले कई साल से मैं राजनीति की सांस्कृतिक जमीन के बारे में सोचता रहा हूँ और सीधे-सीधे कहूँ तो मैं समतामूलक, प्रगतिशील या जनपक्षीय राजनीति के सांस्कृतिक पहलू के बारे में सोचता रहा हूँ। उससे जो कुछ मन में आया वो आपके सामने रखना चाहता हूँ। इन्हें आप सुझाव भी कह सकते हैं, या आत्मालोचना भी। अपनी बात ईमानदारी से रखना चाहूँगा। हो सकता है कि मैं ग़लत हूँ। लेकिन अपनी बात को इस डर से संपादित नहीं करना चाहूँगा कि मेरी बात गलत हो सकती है।

1

सृजन और सांस्कृतिक कर्म एक व्यापक सामाजिक संदर्भ में होता है जिसका धरातल राजनीति तय करती है। आज इस देश में यह संदर्भ बहुत भयावह है । मेरी चिंता यह है कि आज भारत का स्वधर्म खतरे में है। जिसे भारत का सपना कहा जाता है, और बहुत से मित्र जिसे अंग्रेजी में "आईडिया ऑफ इंडिया" कहते हैं, उसे मैं अपने शब्दों में भारत का स्वधर्म कहता हूँ। । मेरी चिंता ये है कि जितनी बातें आज हम यहाँ कर रहे हैं और जिस जमीन पर खड़े होकर ये बातें कर रहे हैं, आज यह जमीन हिलती दिखाई दे रही है। यह खतरा किसी एक सरकार से नहीं है और न ही किसी एक पार्टी से। यह खतरा बहुत गहरा है। अगर आप इजाजत दें तो इस खतरे को समझने के लिए राजनीतिशास्त्र का हवाला दूंगा। एक जमाने में जब मैं पोलिटिकल थ्योरी पढ़ता था, पढ़ाता था, तो इटली के मार्क्सिस्ट एंटोनियो ग्राम्शी को बहुत चाव से पढ़ता था। ग्राम्शी कहते थे पूंजीवादी सत्ता की ताकत केवल राजसत्ता के डंडे के बल पर नहीं चलती है। उसकी असली ताकत है सांस्कृतिक वैधता। पूंजीवाद जिन पर राज कर रहा है उनको यह समझा देता है कि तुम्हारे साथ जो कुछ हो रहा है, वह सब जायज हो रहा है, कुछ गलत नहीं हो रहा है। ग्राम्शी ने बताया कि जो शोषक है वो शोषित पर सिर्फ बल प्रयोग से राज नहीं करता, वह उसके मन पर भी राज करता है, उसके दिलो-दिमाग पर भी राज करता है। उन्होंने इस प्रक्रिया को "हेजेमनी" का नाम दिया है, जिसे हम हिंदी में "वर्चस्व" कहते हैं ।हालांकि वर्चस्व उसका सही अनुवाद नहीं है, यह शब्द जोर-जबरदस्ती और हिंसा का ही आभास देता है। आम जनता के दिलो-दिमाग पर गहरी जकड़ का भाव इसमें नहीं आता है।

आज भारत पर जो खतरा है, भारत के स्वधर्म पर जो खतरा है, वह कुछ "हेजेमनी" वाला मामला है। वह खतरा सिर्फ एक सत्ताधारी पार्टी का खतरा नहीं है, सिर्फ एक सरकार का खतरा नहीं है। बेशक, जो लोग इस देश की बुनियाद को हिलाना चाहते हैं वे गुंडागर्दी भी कर रहे हैं, वर्दीधारियों की हिंसा का भी सहारा ले लेते हैं। लेकिन असली ख़तरा यह है कि वे जन मानस के ज़ेहन का हिस्सा बनते जा रहे हैं। ख़तरा इस बात का है कि जो संस्कृति की बुनियाद है, जिसे हम लोक संस्कृति कहते हैं, उसमें ज़हर घोलने की साजिश की जा रही है। ख़तरा इस बात का है कि जनमानस में कई ऐसे विचार अपनी जड़ बना रहे हैं जो भारत के स्वधर्म के उलट हैं, लोकतंत्र की बुनियाद को लोकमत के उखाड़ा जा रहा है।

मुझे ये खतरा कोई पच्चीस साल पहले समझ आया था। हमारे थिएटरकर्मी मित्र मंजुल भारद्वाज ने 6 दिसम्बर 1992 का ज़िक्र आपके सामने किया। मैं भी वहीं से अपनी बात रखना चाहूँगा। मैं उन दिनों पंजाब यूनिवर्सिटी में पढ़ाता था और चण्डीगढ़ के किनारे डड्डूमाज़रा नामक बस्ती में रहता था। उस वक़्त वहाँ कोई संभ्रांत व्यक्ति तो छोड़िये, निम्न-मध्यम वर्ग भी रहना पसंद नहीं करता था। मेरे ऑफिस के क्लर्क भी वहाँ नहीं रहना चाहते थे। हाँ, यूनिवर्सिटी के सफ़ाई कर्मचारी वहां जरूर रहते थे। बस्ती के लोग बड़े खुश होते थे कि एक पढ़े-लिखे प्रोफेसर साहब हमारे पड़ोस में रहते हैं। छह दिसंबर को बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना हुई। पाँच दिसंबर तक मैं भी उन मूर्ख लोगों में शामिल था जो यह मानते थे कि कुछ नहीं होना है। यह भी एक नाटक है। मेरा तो यहाँ तक सोचना था कि छह दिसंबर को संघ परिवार वालों ने अगर सचमुच विध्वंस कर दिया तो इनकी दुकान ही बंद हो जाएगी। इसलिए मैं निश्चिंत था कि एक और ड्रामा करके ये अपने घर चले जाएंगे। लेकिन जब देखा कि सचमुच उन्होंने बाबरी मस्जिद को तोड़ दिया है, तो मुझे डर

लगा कि अब तो देश में आग लग जाएगी और हमारे सपनों का भारत बिखर जाएगा। मैं आमतौर पर भावुक नहीं होता। लेकिन उस दिन मैं फूट-फूट कर रोया। शहर में कर्फ्यू था, लेकिन नाममात्र का। मेरे पड़ोस में एक तरफ तांगेवाला परिवार रहता था और एक घर छोड़कर दूसरी तरफ़ का परिवार सूअर पालने का काम करता था। मैं उनके पास गया और बोला कि देखिए देश में क्या हो रहा है। उन्होंने मेरी बात सुनी और बोले कि प्रोफेसर साहब बात तो आपकी ठीक है, लेकिन एक बात बताओ, अगर रामजी का मंदिर अयोध्या में नहीं बनेगा तो क्या इंग्लैंड में बनेगा? मेरे दिमाग में संविधान, सुप्रीम-कोर्ट, लिबरलिज्म की शब्दावली झनझना रही थी। और उन्होंने सहज ही कह दिया कि रामजी का मंदिर यहां नहीं बनेगा तो कहाँ बनेगा? तब मुझे समझ आया कि मेरी भाषा, मेरे मुहावरे, मेरे तर्क यहाँ काम नहीं करेंगे।

हम लोग जो अपने आप को प्रगतिशील कहते हैं, सेकुलर कहते हैं, उदारवादी कहते हैं या वामपंथी कहते हैं, हम जिस भाषा में बात करते हैं, जिस मुहावरे में बात करते हैं, उसमें कहीं ना कहीं गड़बड़ है। हमारी भाषा हमें जन मानस से जोड़ने का काम नहीं कर पा रही है। और सोचने पर महसूस हुआ कि मामला सिर्फ भाषा और मुहावरे का नहीं है, हमारी बुनियादी सोच में खोट है। हमारी सोच, हमारी अवधारणाएं और हमारे सिद्धांत सब एक यूरोपीय अनुभव की पैदाइश हैं और कहीं न कहीं उसी खांचे में कैद हैं। समतामूलक राजनीति को एक देशज विचार की जरूरत है।

उन दिनों मैं जनसत्ता पढ़ता था। अगले दिन उसके मुखपृष्ठ पर प्रभाष जोशी जी का सम्पादकीय आया, जिसका शीर्षक कुछ यूं था "मर्यादा पुरुषोत्तम राम के नाम पर कलंक"। वह आधे पेज का संपादकीय था जिसमें उन्होंने एक सामान्य धर्मपरायण हिन्दू से संवाद करते हुए लिखा था कि भगवान राम ने क्या किया और उनके नाम पर यह संघ वाले क्या कर रहे हैं। जहाँ तक याद पड़ता है, पूरा लेख मर्यादापुरुषोत्तम भगवान राम की बात करता था और बताया था कि कल जो हुआ वह भगवान राम के आदर्शों के अनुसार नहीं था बल्कि भगवान राम के नाम पर छल-कपट की गई। उस लेख को पढ़कर मुझे जैसे वाणी मिल गई। मैंने उस लेख की डेढ़ सौ जेरोक्स कॉपी कराई और लोगों में बांटी। ऐसा तो नहीं कि अचानक सब कुछ बदल गया, लेकिन मुझे अपनी बात कहने की भाषा मिल गयी, एक संवाद का रास्ता खुल गया।

तब मैंने सोचना शुरू किया कि हम लोग जो अपने आप को प्रगतिशील कहते हैं, सेकुलर कहते हैं, उदारवादी कहते हैं या वामपंथी कहते हैं, हम जिस भाषा में बात करते हैं, जिस मुहावरे में बात करते हैं, उसमें कहीं ना कहीं गड़बड़ है। हमारी भाषा हमें जन मानस से जोड़ने का काम नहीं कर पा रही है। और सोचने पर महसूस हुआ कि मामला सिर्फ भाषा और मुहावरे का नहीं है, हमारी बुनियादी सोच में खोट है। हमारी सोच, हमारी अवधारणाएं और हमारे सिद्धांत सब एक यूरोपीय अनुभव की पैदाइश हैं और कहीं न कहीं उसी खांचे में कैद हैं। समतामूलक राजनीति को एक देशज विचार की जरूरत है। इसी सोच के साथ मैंने 1993 में इकनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली में एक लेख लिखा था 'टुवर्ड्स एन इंडियन एजेंडा फॉर द इंडियन लेफ़्ट' यानि 'भारत का वामपंथ भारतीय कैसे बने'। आज के संदर्भ में जब मैं देखता हूँ तो मुझे लगता है कि 25 साल पहले अगर हमने ये बात समझ ली होती कि भारत की जनता से उसकी भाषा में सम्वाद कैसे करना है तो आज स्थिति ऐसी ना होती जैसी अब है।

हमारी इस विफलता का परिणाम यह है कि भारतीयता, संस्कृति और हिंदुत्व के नाम पर आज भारत के स्वधर्म की हत्या हो रही है। हमारी ऐतिहासिक लापरवाही है जिसके चलते गुंडई का साम्राज्य है, जिसके चलते आये दिन सड़क पर हत्या हो रही है और सारा देश टुकुर-टुकुर देख रहा है। मैं इस स्थिति के लिए उन लोगों को दोष नहीं देता जो बड़ी-बड़ी कुर्सियों पर बैठे इस हमले को शह दे रहे हैं। एक दुकानदार को क्या दोष दें कि उसने मुनाफा कमाया, एक पॉकेटमार की क्या शिकायत करें कि उसने पॉकेट पर हाथ मारा। दोष तो अपने आपको ही देना होगा। सवाल तो अपने आप से पूछना होगा, हम पिछले 25 साल से क्या कर रहे हैं? जिन्हे नाज़ है हिन्द पर वो कहाँ हैं?

मैं समझता हूं कि हम सब लोग अपराधी हैं क्योंकि 1992 में खतरे की घंटी बजने के बाद भी हमने वह काम नहीं किया जो हमें करना चाहिए था। ये राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वाले लोग जो नफ़रत का व्यापार करते हैं वे 92 साल से जनता के बीच जा रहे हैं, उनके बीच काम कर रहे हैं। ज़हर फैला रहे हैं, लेकिन देखिये तो कितनी शिद्दत से फैला रहे हैं। कुछ तो उनसे सीख लें हम। हम नब्बे साल छोड़िए नब्बे महीने तो लगाएं, जनता के बीच जाएँ, सर झुका के गालियां सुने, फिर प्यार से कुछ अपनी बात भी सुनाएँ, कुछ सीखें, कुछ सिखाएं। हम अपराधी हैं कि हमने जन मानस के धरातल पर वो काम नहीं किया जो हमें करना था। अगर हम वो काम आज भी शुरू कर दें तो हमें जनमानस को जीतने में उतना समय नहीं लगेगा जितना संघ वालों को लगा। वजह ये है कि नफरत का बीज यूरोप का इम्पोर्टेड माल है, इस देश की मिट्टी के लिए बना नहीं है। हमें तो फिर उस पौधे को रोपना है जो गंगा-जमुना के मैदान में पांच हज़ार साल से उगता रहा है।

Home

2

हमारे तीन बड़े अपराध हैं जिन पर मुझे कुछ कहना है। पहला अपराध है राष्ट्रवाद की विरासत की उपेक्षा। भारतीय राष्ट्रवाद की सच्चाई और गहराई को समझे बिना हमने आज़ादी के बाद राष्ट्रवाद के मुहावरे से कन्नी काटनी शुरू कर दी। ये एक ऐतिहासिक भूल थी। दुनिया में दो तरह के राष्ट्रवाद हुए हैं -- एक यूरोपीय महाद्वीप को जातीय, नस्ली और भाषायी आधार पर बांटने और राष्ट्र राज्यों में पुनर्गठित करने वाला राष्ट्रवाद और दूसरा औपनिवेशिक सत्ता से संघर्ष कर आज़ादी हासिल करने वाला राष्ट्रवाद। पहला राष्ट्रवाद तोड़क है -- यह ठहराव में पैदा होता है, अंतर्मुखी और संकीर्ण भाव रखता है और उसकी ऊर्जा विदेशी शक्ति और घर के 'बाहरी' लोगों से लड़ने में खर्च होती है। दूसरा राष्ट्रवाद जोड़क है -- आंदोलन से पैदा हुआ, सतत आंदोलित करता रहा, औपनिवेशिक सत्ता से लड़ते हुए दुनिया भर के साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों से जुड़ा, और उसकी मुख्य ऊर्जा एक बिखरे समाज को राष्ट्र-राज्य में जोड़ने में लगी। अगर जर्मनी पहले राष्ट्रवाद का मॉडल है तो भारत दूसरे किस्म के राष्ट्रवाद का।

वैसे भी अगर बीसवीं सदी के दो महान आंदोलन हुए हैं तो उनमें एक भारत का राष्ट्रीय आंदोलन था तो दूसरा दक्षिणी अफ्रीका का रंगभेद विरोधी आंदोलन। इन दो महान आंदोलनों में से एक के वारिस हम है। ये वो राष्ट्रवाद है जिसकी मुख्यधारा जिसने हमेशा संकीर्ण और तोड़क प्रवृति को ख़ारिज किया, जिसने अंदरूनी कमजोरियों पर खुल कर बहस की। ये वो राष्ट्रवाद है जिसमें एक बार भी नस्ली श्रेष्ठता का पुट नहीं आया। ये वो राष्ट्रवाद है जिसमें टैगोर और गांधी खुलकर इस बात पर बहस कर सकते हैं कि राष्ट्रवाद का विचार स्वस्थ है या नहीं। टैगोर राष्ट्रवाद को खारिज करते हुए किताब लिख सकते हैं, गांधी को लिख सकते हैं कि तुम संत आदमी किस संकीर्णता में फंस गए हो। और उसी टैगोर के गीत को हम राष्ट्रगान मान लेते हैं। ये वो राष्ट्रवाद है जो अपने राष्ट्रगान में "पंजाब सिंध गुजरात मराठा, द्राविड़ उत्कल बंग" का जिक्र कर सकता है। अपनी विविधता को छुपाने की जरूरत नहीं समझता,बल्कि खुलकर सामने रखता है। ये कोई जर्मनी, इटली या फ्रांस का राष्ट्रवाद नहीं है, यूरोप का एकरूपक राष्ट्रवाद नहीं है। इस राष्ट्रवाद ने हमें अफ्रीका से जोड़ा, लैटिन अमेरिका से जोड़ा, बाकी एशिया से जोड़ा, इसने हमें चीन के साथ जोड़ा।

आज़ादी से पहले हमारे नेता और बौद्धिक इस अंतर से वाकिफ थे। लेकिन आज़ादी के बाद का हमारा बुद्धिजीवी राष्ट्रवाद की इस सकारात्मक विरासत से कटने लगा।अपने राष्ट्रवाद को समझे बगैर यूरोप के प्रगतिशील लोगों की तर्ज़ पर हमने भी अपने राष्ट्रवाद से कन्नी काट ली। यूरोप में आज भी अगर किसी राजनीति को गाली देनी हो तो उसे 'नेशनलिस्ट' कहा जाता है। यूरोप में नेशनलिस्ट पार्टी वो कहलाती है जो अपनी नस्ली और सांस्कृतिक श्रेष्ठता में विश्वास करे, बाहरी दुनिया और अपने भीतर 'बाहरी' अप्रवासी लोगो के खिलाफ द्वेष और हिंसा की राजनीति करे। हमारे बुद्धिजीवियों ने भी इस परिभाषा को आत्मसात कर लिया। जैसे-जैसे साठ और सत्तर के दशक में राष्ट्रवाद की भाषा का दुरूपयोग होने लगा, हर बात में विदेशी हाथ दिखाया जाने लगा, वैसे-वैसे हमारे बुद्धिजीवी राष्ट्रवाद से विमुख होने लगे। राष्ट्रवाद का दुरुपयोग रोकने की बजाय राष्ट्रवाद से संकोच करने लगे, ठीक वैसे ही जैसे पश्चिमी बुद्धिजीवी करते हैं।पिछले दस-पंद्रह साल में समाज विज्ञान और मानविकी (ह्यूमानिटीज) में उत्तर-राष्ट्रवाद (पोस्ट-नेशनलिज़्म) का फ़ैशन चला मानो हम एक बहुत ही निकृष्ट विचारधारा से ऊपर उठ गए। बेशक, कश्मीर में, नागालैंड में, बस्तर में जो कुछ हो रहा था उसका सच बोलने के लिए एक नयी भाषा चाहिए थी, लेकिन इसके लिए पोस्ट नेशनलिस्ट होने की आवश्यकता नहीं थी। इस सच को स्वीकार करने के लिए हमारे राष्ट्रवाद की विशद विचारधारा ही पर्याप्त थी। राष्ट्रवाद को छोड़ देने का नतीजा हमारे सामने है। आज इस विरासत पर उन लोगों का कब्ज़ा है जिन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान मुखबिरी का काम किया था, जिन्होंने इस देश की आज़ादी के लिए एक कतरा खून भी नहीं बहाया था। अगर यूरोपीय राष्ट्रवाद की घटिया नक़ल की घुट्टी आज भारतीय राष्ट्रवाद के नाम पर पूरे देश को पिलाई जा रही है तो उसके लिए हम सब जिम्मेवार हैं।

दूसरी बड़ी भूल है भारतीय परम्परा और संस्कृति का तिरस्कार। आधुनिकतावादी मानस की तर्ज़ पर हमने भी मान लिया कि आधुनिक होने के लिए हमें परंपरा के हर अवशेष से मुक्त होना है, कि परंपरा एक प्रवाह नहीं ठहरा हुआ पानी है, उसकी धार एकांगी है, उसका मिजाज़ दकियानूसी है, उसकी दिशा प्रतिगामी है और वह हर हालत में त्याज्य है। परंपरा की यह समझ दरअसल एक आधुनिक अन्धविश्वास है। हर नदी अपने साथ बहुत कुछ बहा लाती है -- रेत, पत्थर, पत्ते, कूड़ा। हर समाज उस नदी के पानी को साफ़ करके पीने योग्य बना लेता है। यही बात परम्पराओं पर लागू होती है। हमारी चुनौती थी कि हम परंपरा की अनेक धाराओं में से चुन कर, छान कर, सीख कर अपनी ठेठ हिंदुस्तानी आधुनिकता गढ़ें। लेकिन उसकी बजाए हमने बहुत छिछली आधुनिकता को ओढ़ लिया। ये छिछली आधुनिकता यूरोप की नकल पर आधारित है। हम भूल गए कि यूरोप ने आधुनिकता के लिए किसी की नकल नहीं की। पश्चिमी आधुनिकता अपनी विशेष यूरोपीय परंपराओं, क्रिश्चिएनिटी से सीख कर गढ़ी गयी थी। हमने अपनी आधुनिकता को स्वयं गढ़ने की बजाए नकलची और उधार की आधुनिकता को प्रगतिशील और

भविष्य परक समझ लिया। नतीजा यह हुआ कि हमने अपनी सांस्कृतिक विरासत की अमूल्य धरोहर को कूड़ेदान में फेंक दिया। हमारे लिए दर्शन का मतलब है पाश्चात्य दर्शन, राजनैतिक चिंतन का मतलब है पाश्चात्य चिंतन, साहित्य का मतलब है यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध साहित्य, चिकित्साशास्त्र का मतलब है एलोपैथी। एक पढ़ा लिखा आधुनिक भारतीय अपने देश की दर्शन और ज्ञान परम्पराओं, भारतीय राजनैतिक चिंतन और किंवदंतियों और कथा साहित्य में कमोबेश अनपढ़ रहता है।

हमारा सांस्कृतिक दिवालियापन सबसे ज्यादा भाषा के सवाल पर दिखाई देता है। यह दरिद्रता संस्कृतिकर्मियों की इतनी नहीं है जितनी कि बाकी बुद्धिजीवियों की। उन्होंने तो हमारे देश की भाषा ही छोड़ दी। अगर आप देश के गणमान्य बुद्धिजीवियों से यह पूछें कि पिछले एक साल में उनमें से किसी ने भारतीय भाषा में कोई एक किताब पढ़ी या एक पृष्ठ भी किसी भारतीय भाषा में लिखा हो तो इस सवाल पर सभी बगलें झांकने लगेंगे। कुछ साल पहले जब जवाहलाल नेहरू विश्वविद्यालय में संस्कृत का विभाग खोलने का प्रस्ताव आया तो अधिकांश प्रगतिशील विद्वानों ने इसका विरोध किया और तब इस विभाग को नहीं बनाने दिया। हमारे आधुनिक अंग्रेज़दाँ बुद्धिजीवियों की ऐसी स्थिति है जैसे कि हम इंग्लैंड में रह कर चीनी भाषा में विमर्श करते हों और फिर मातम करें कि कोई हमारी बात को समझता नहीं है। भाषा से हम कटे हुए हैं, मुहावरों से हम कटे हुए हैं, संस्कारों से हम कटे हुए हैं और फिर कहते हैं कि जनता हमारी बात क्यों नहीं सुन रही है! क्या वजह है कि ज़हर फैलाने वालों की बात जनता सुन रही है? क्योंकि वह वह उनकी भाषा में बात करते हैं, वह जनता के बीच जा रहे हैं, झूठी बातें फैलाते हैं लेकिन जिस शब्दावली में बात करते हैं वो देशी चाशनी में लिपटी होती है। इसलिए जरूरी है कि हम उन्हें दोष देने की जगह अपने गिरेबान में झांकें।

तीसरी बड़ी भूल धर्म के बारे में है। इस हॉल में बैठे हुए हम सभी लोग इस बात को अच्छी तरह समझते हैं कि अगर सेकुलरवाद है तो यह देश है। अगर सेक्युलरवाद नहीं रहेगा, अगर इस देश में किसी एक धर्म के अनुयायियों का बोलबाला स्थापित करने के कोशिश होगी तो भारत एक देश के रूप में नहीं बचेगा। इसलिए सेकुलरवाद का कोई विकल्प इस देश में नहीं है। लेकिन सेक्युलरवाद जैसे सबसे पवित्र सिद्धांत को हमने इस देश का सबसे बड़ा पाखण्ड बना दिया है। विभाजन की त्रासदी से गुजरने के बाद सेकुलरवाद एक कठिन सैद्धांतिक प्रतिबद्धता का नमूना था। धीरे-धीरे या सिद्धांत एक राजनीतिक सुविधा में बदलने लगा। और वक्त गुजरा तो यह अपने आप को सेक्युलर कहने वाली पार्टियों की चुनावी मजबूरी बन गया। अब बहुत समय से सेकुलरवाद अल्पसंख्यकों, और खसतौर पर मुसलमानों, को बंधक बनाये रखने का फार्मूला बन गया है। सेकुलर कहलाने वाली पार्टियां यह नहीं चाहतीं कि मुसलमान बिजली, सड़क, पानी या तालीम और रोजगार जैसे सवालों पर वोट डाले। वो चाहती हैं कि मुसलमान सिर्फ मुसलमान बना रहे, डरा रहे और बस अपनी जान-माल की सुरक्षा के नाम पर वोट डालता रहे।

नतीजा यह हुआ कि एक साधारण मुसलमान की हालत तो बद से बदतर होती गयी लेकिन मुस्लिम ठेकेदारों की जायज़-नाजायज़ बातें मानी जाती रहीं। इस हकीकत के चलते बीजेपी का यह दुष्प्रचार चल निकला कि मुसलमानों का तुष्टीकरण हो रहा है। एक औसत हिन्दू के मन में यह बात बैठा दी गयी कि ये जो सेक्युलर लोग होते हैं ये मुस्लिमपरस्त होते हैं। सेकुलर जमात की भाषा हिन्दू साम्प्रदायिकता के खिलाफ तो खरी और कड़ी होती है, लेकिन अल्पसंख्यकों की साम्प्रदायिकता के खिलाफ दबी जुबान से बोलने का रिवाज़ चल निकला। सेकुलरवाद की राजनीति में यह सिद्धांत चल निकला कि बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता और अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता में अंतर है। हालांकि इस बात में थोड़ी सच्चाई भी है, लेकिन इस अंतर को दोहरे मापदंड का बहाना बनाया गया है। पिछले साल जब ट्रिपल तलाक पर बहस हुई तो अधिकांश सेक्युलर लोगों ने बहुत कायदे से सही बात कही, लेकिन पिछले 20-25 साल में बहुत से मुद्दों पर उन्हें जो बात कहनी चाहिए थी उस से भी कतराते रहे। चाहे शाहबानो मामला रहा हो या शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक समिति द्वारा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को रोकने का सवाल, या फिर चर्च द्वारा लालच देकर धर्मान्तरण का मुद्दा -- इन सब सवालों पर सेकुलर आवाज़ कमजोर रही।इस एकतरफा बात से सेकुलरवाद का सिद्धांत कमजोर हुआ है।

बौद्धिक दायरों में सेकुलरवाद को नास्तिक होने का पर्याय माना जाने लगा। बेशक, हमारे देश में हर व्यक्ति को अनीश्वरवादी होने का उतना ही हक़ है जितना किसी धर्म का अनुयायी होने का। मैं खुद पारम्परिक अर्थ में धार्मिक नहीं हूँ, और कर्म-कांड से परहेज़ करता हूँ।लेकिन धर्म के पाखंड में विश्वास ना करना और धर्म को ना जानना यह दो अलग-अलग बातें हैं। दुर्भाग्यवश हमारे यहाँ सेकुलरवाद धर्म, धार्मिक ग्रंथों और धार्मिक परम्पराओं को नहीं जानने का सबसे बड़ा बहाना बन गया। इस प्रकार इसके नाम पर एक तरीके की अनपढ़ता को बढ़ावा दिया गया। नतीजा यह हुआ कि धार्मिक परंपराओं से जो कुछ हम सीख सकते थे, धर्म की जो इतनी बड़ी बौद्धिक सम्पदा है, उस विशद विरासत से हम कट गए। समाज की धार्मिक आस्था कम नहीं हुई, बल्कि सही जानकारी और समझ के अभाव में लोग धर्म के नाम पर चल रहे अनेक बाबाओं के चक्कर में फंस गए। जनता के संस्कार और आस्था से कटने का नतीजा यह हुआ कि प्रगतिशील राजनीति कभी समाज में जड़ नहीं पकड़ सकी।

Home

3

मुझे मालूम है कि कुछ मित्रों को यह बात कड़वी लग रही होगी। लेकिन अंधकार की इस घड़ी में अगर हम ईमानदारी से खुलकर बात नहीं करेंगे तो परिणाम और भी कड़वे होंगे। इतना अंधकार है कि सड़कों पर कत्ल हो रहे हैं, बलात्कार हो रहे हैं और उन्हें खुल्लम-खुल्ला धर्म और संस्कृति के नाम पर सही ठहराया जा रहा है। ऐसे अंधकार के समय में हम लोग महज अपनी पुरानी बातें दोहरा कर और ताली पिटवा कर लौट जाएं तो कोई फायदा नहीं होगा। इसलिए इस कड़वे सच को स्वीकार करना होगा कि पिछले 25-30 सालों की हार, खासतौर से राम जन्मभूमि के आंदोलन के बाद की हार, सिर्फ चुनाव की हार नहीं है, सत्ता की हार नहीं है, बल्कि संस्कृति की हार है। हम अपनी सांस्कृतिक राजनीति की कमजोरियों की वजह से हारे हैं।अगर जीत हासिल करनी है तो सिर्फ चुनावी रणनीति और राजनैतिक गठजोड़ से काम नहीं चलेगा। हमें दिल-और-दिमाग की लड़ाई जीतनी होगी, विचार और शास्त्र के तर्क़युद्ध में जीतना होगा, भाषा और अभिव्यक्ति के मैदान को फतह करना होगा। यह लड़ाई लम्बी चलेगी। और इस लंबी लड़ाई के केंद्र में सांस्कृतिक काम होगा। यह काम आपको करना है। समाज से टूटा जुड़ाव कैसे स्थापित किया जाय, यह मैं नहीं बता सकता। यूं भी सांस्कृतिक सृजन का काम किसी निर्देश, फॉर्मूले या खांचे से बंध कर नहीं हो सकता। मैं केवल इशारा सकता हूं कि इतने बड़े काम के लिए नैतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक स्रोत कहां से मिलेंगे।

मेरी समझ में इसके लिए बहुत दूर जाने की जरूरत नहीं है।हमारे ही देश के पिछले डेढ़ सौ साल के इतिहास में इन सवालों पर गहरा मंथन हुआ है। यह हमारे लिए एक अद्भुत स्रोत है। इसे आप आधुनिक भारतीय चिंतन या राजनीतिक चिंतन कह सकते हैं। यह एक बहुत बड़ी संपदा है जो पूरी तरह आधुनिक है और ठेठ भारतीय भी ।आज देश में जिन सवालों पर हम चर्चा कर रहे हैं -- चाहे हिन्दू-मुसलमान का सवाल हो या गौरक्षा का, चाहे भाषा का सवाल हो या परम्पराओं का -- उन सब सवालों पर इस चिंतन परंपरा में आज से कई गुना बेहतर चर्चाएं हो चुकी है, जिससे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं। सवाल यह है कि इन सभी से एक साथ कैसे सीखा जाए ?

बीसवीं सदी के भारतीय चिंतन में मुख्यतः दो धाराएं हैं। एक है समतावादी मुख्यधारा जो विशेष तौर पर 1917 में रूस की क्रांति के समय प्रारंभ हुई थी । इसमें मुख्यतः मार्क्सिस्ट, सोशलिस्ट, फेमिनिस्ट और फुले -अंबेडकर धाराएं शामिल है। 20वीं सदी में ये धाराएं आपस में काफी झगड़ा करती थीं। कहीं ना कहीं ये एक ही मुख्यधारा से जुड़े हुए थे,इसलिए आपस में द्वंद्व होना भी स्वाभाविक था। आज हमें इन झगड़ों में उलझने की जरूरत नहीं है। हमारा सवाल है कि समता की राजनीति को जनमानस से कैसे जोड़ा जाए? इसके लिए हमें इस उपधारा में बहुत कुछ मिलेगा। आचार्य नरेंद्र देव ने बुद्ध धर्म दर्शन पर जो लिखा है उसे पढ़ा जाए, राम मनोहर लोहिया राम, कृष्ण और शिव पर क्या लिखते हैं उसे हम पढ़ें, द्रोपदी और सावित्री पर क्या लिखे हैं उसे हम पढ़ें। यह सब हमारे अपने स्रोत हैं, एक देशज समझ विकसित करने के औजार हैं। लेकिन एक दूसरी परंपरा भी मौजूद है। उसे क्या नाम दिया जाए एक एक द्वंद्व रहा एक देशज धारा है जो गांधी से जुड़ी हुई है, अरबिन्दो को भी उसमें जोड़ सकते हैं, सर्वोदय के विचार उसमें शामिल हैं।यह एक देशज, एक भारतीय विचारधारा है जिसने पश्चिमी विचारधारा के बरक्स अपने आप को स्थापित किया है। यह परंपरा 20वीं सदी के आखिर में डगमगाती है। कभी इधर कभी उधर संभल नहीं पाती है। मैं निर्मल वर्मा जी को इसमें देखता हूं, इसमें धर्मपाल जी को देखता हूं ।इस बात को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता कि 6 दिसंबर 1992 के बाद वे कहां जा चुके थे। लेकिन भारत के स्वधर्म की तलाश और रक्षा इस दूसरी धारा को नज़रअंदाज करके नहीं हो सकती।

20वीं सदी में यह दोनों धाराएं समानांतर रूप से काम करती रही है। लेकिन 21वीं सदी में अगर हमें आज के अंधकार का सामना करना है तो इन दोनों धाराओं को आपस में जोड़े जाने की जरूरत है । हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि हम इन दो मुख्य धाराओं, समतावादी और देशज धाराओं की वैचारिक सम्पदा से सीखें और इन्हें आपस में जोड़ने का काम करें। जिस सांस्कृतिक चुनौती का सामना आज हमें करना पड़ रहा है उसका मुकाबला करने के लिए हमें समता विचार और देशज विचारधाराओं दोनों का संगम करना होगा। 21वीं सदी में यह हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती है। मुझे लगता है कि इस काम में राममनोहर लोहिया और किशन पटनायक जैसे चिंतक हमारी बहुत मदद कर सकते हैं चूंकि इनकी सोच में इस संगम की झलक देखी जा सकती है। मुझे यह भी लगता है कि स्वराज की अवधारणा इस प्रयास में एक छतरी का काम कर सकती है जिसके तले हम दोनों धाराओं का संवाद चला सकते हैं। आज देशधर्म पर जो खतरा है उसका मुक़ाबला करने के लिए, एक नया हिंदुस्तान बनाने के लिए एक देशज और आधुनिक विचार की आवश्यकता है । एक देशज आधुनिकता की सोच हमें सांस्कृतिक सृजन और एक बेहतर हिंदुस्तान के सृजन की ओर ले जाएगी।

प्रस्तुति एवं संयोजन - सुरेंद्र पाल सिंह, 98728-90401

दिनेश दधीचि

सोचो

सोचो, सही-ग़लत को ले कर
नोक कलम की पैनी क्यों हैं?
बाज़ अगर हैं बेक़ुसूर तो
चिड़ियों में बेचैनी क्यों हैं?

गजल

बात करती हैं नज़र, होंठ हमारे चुप हैं.
यानि तूफ़ान तो भीतर हैं, किनारे चुप हैं.
उनकी चुप्पी का तो कारण था प्रलोभन कोई
और हम समझे कि वो ख़ौफ़ के मारे चुप हैं.
बोलना भी है ज़रूरी साँस लेने की तरह
उनको मालूम तो है, फिर भी वो सारे चुप हैं.
भोर की वेला में जंगल में परिंदे लाखों
है कोई खास वजह, सारे के सारे चुप हैं.
जो हुआ, औरों ने औरों से किया, हमको क्या?
इक यही सबको भरम जिसके सहारे चुप हैं.

2

इस तरह उनसे बढ़ाएँ मेरी दूरी ग़ज़लें
उनको ज़िद है कि कहूँ मैं भी अँगूरी ग़ज़लें.
आम कोयल के लिए, मिर्च हैं मिट्ठू के लिए,
काले कागा की मुँडेरों की हैं चूरी ग़ज़लें.
सिलसिला बातों का उनसे कभी मुमकिन ही नहीं
वो ये कहते हैं भला क्यों हैं ज़रूरी ग़ज़लें ?
श्वेत औ' श्याम नहीं और ये रंगीं भी नहीं
कत्थई रंग की मिट्टी-सी हैं भूरी ग़ज़लें.
दस्तकें उनकी सुना करता हूँ मैं रातों को
मुझको सोने नहीं देती हैं अधूरी ग़ज़लें.
पैदा होना ही तो मरना है तभी कागज़ पर
जब लिखी जायं तो हो जाती हैं 'पूरी' ग़ज़लें.
तख्ते-ताऊस समझता है इसे गुस्ताखी
नाचती मोर की खातिर हैं मयूरी ग़ज़लें.

संपर्क - 93541-45291

दिनेश हरमन की ग़ज़लें

1

हर तरफ ज़ुल्म है आतंक है तबाही है
और सितम ये है कि रोने की भी मनाही है
तू भले लाख छुपा ले तेरे गुनाहों को
वो जो ख़ुदा है हरेक ज़ुल्म देखता ही हैं

2

मैं खाक़ हूँ, ये जो सोना बता रहे हैं मुझे
ज़हीन लोग हैं चूना लगा रहे हैं मुझे
मैं चाहता हूँ कि रोटी नसीब हो मुझ को
वो चाँद तारों के किस्से सुना रहे हैं मुझे
जो कह रहे थे कि इक पल में भूल जाएंगे
एक अरसा हो गया अब तक भुला रहे हैं मुझे

3

कभी दरों से कभी खिड़कियों से बोलेंगे
सड़क पे रोको गे तो हम घरों से बोलेंगे
कटी ज़बाँ तो इशारे करेंगे आँखों से
जो सर कटे तो हम अपनी धड़ों से बोलेंगे
ये आसमान उन्हीं के सुनाएगा किस्से
जो अपनी बात को अपने परों से बोलेंगे
सवाल कर ही लिया हैं तो अब सम्भल जाओ
वो अब ज़बाँ से नहीं लाठियों से बोलेंगे
हमारा नाम भी लिख लीजे अपनी गोली पर
कि अब निकल के हम अपनी हदों से बोलेंगे

4

जो भी है, बिक जाने को तैयार है, धिक्कार है
हर तरफ बाज़ार ही बाज़ार है, धिक्कार है
वो, किया था छेद जिस ने कल तुम्हारी नाव में
आज उसके हाथ में पतवार है, धिक्कार है
गिद्ध हो तुम, खा रहे हो नोच कर इस मुल्क को
और कहते हो वतन से प्यार है, धिक्कार है
क्या यहाँ कोई नहीं जो रोक ले इस भीड़ को
क्या सभी की ज़ेहनियत बीमार है? धिक्कार है
कल जहाँ जयकार थी उत्साह था उल्लास था
अब वहाँ धिक्कार की दरकार है, धिक्कार है
आइये इक दूसरे को कोस लें हम और आप
ये हमारी ही चुनी सरकार है, धिक्कार है.

जयपाल

डर लगता है

उठ रहा है ये बस्ती से धुआं सा कैसा
धुआं देखकर ही अब तो डर लगता है

किसकी लाश मिली है बस्ती के बाहर
यह पता करने में ही अब तो डर लगता है

बस्ती में उग आया है पत्थरों का जंगल
पत्थरों को पत्थर कहने से डर लगता है

हर कोई समझता है यहां फरिश्ता खुद को
इन फरिश्तों से ही अब तो डर लगता है

किसी ने लिखी है कविता बिना डर के
उस कविता को पढ़ते हुए भी डर लगता है

सदियों से मिल कर रहते थे इस बस्ती के लोग
यह बताते हुए भी अब तो डर लगता है

बस्ती में बसे हैं खुदाओं के खुदा
या खुदा तेरी खुदाई से भी अब तो डर लगता है

अब अपनी गुजर बसर नहीं इस बस्ती में
बस्ती के नाम से भी अब तो डर लगता है

चलो अब कहीं बस्ती बनाएं आसमान पर
जमीं की आबो हवा से अब तो डर लगता है

ड्राईंग रूम

अपने घर के दरवाजे के पास
मैंने एक ड्राईंग रूम सजा लिया है
और खुद को खुद से छिपा लिया है
जब भी मैं कहीं बाहर जाता हूं
ड्राईंग रूम भी मेरे साथ होता है

मैं ड्राईंग रूम का ख्याल रखता हूं
ड्राईंग रूम मेरा ख्याल रखता है

संपर्क - 9466610508

हरभगवान चावला की कविताएं

ये किया हमने

हमने स्त्रियों की पूजा की
और लहूलुहान कर दिया
हमने नदियों की पूजा की
और ज़हर घोल दिया
हमने गायों की पूजा की
और पेट में कचरा उड़ेल दिया
हमने ईश्वर की पूजा की
उसके क़त्ल के लिए हमने
नायाब तरीका चुना
हमने एक ईश्वर के
कई ईश्वर बनाए
और सब को आपस में लड़ा दिया।

मौत

दुनिया के किसी भी पिता की मौत
इतनी स्वाभाविक नहीं रही होगी
जितनी स्वाभाविक मौत मेरे पिता की थी
मैं जब ऐसा कहूँ तो सिर्फ़ सुनो
न देखो मेरी तरफ़, न सवाल करो
न मेरी आवाज़ की बर्फ़ को महसूस करो
बस सुनो और मुझ पर रहम करो
और हाँ, एक प्रार्थना उन तक पहुंचा दो
मुझे पिता की मौत की जाँच नहीं चाहिए।

तुम बिन

मैं चाकू से पहाड़ काटता रहा
मैं अंजुरियों से समुद्र नापता रहा
मैं हथेलियों से ठेलता रहा रेगिस्तान
मैं कंधों पर ढोता रहा आसमान
यूं बीते ये दिन
तुम बिन!

चुनरी

माई री माई!
बोल मेरी बिटिया
आंधी आ गयी
आने दे
बादल छा गये
छाने दे
मेघा बरसे
बरसन दे
छप्पर टपका
टपकन दे
खटिया भीगी
भीगन दे
गैया खीझी
खीझन दे
माई री माई
मेरी चुनरी उड़ गयी
संभाल मेरी बिटिया
अकास चढ़ी चुनरी
जुलम हुआ बिटिया।

भेड़ें

भेड़ें
मस्ती में देशभक्ति के गीत गाएँ
और भेडियों को
शांति से अपना काम करने दें।

2

दुनिया में
कहीं नहीं बची तानाशाही
अब सर्वत्र लोकतंत्र है
और इस लोकतंत्र में
भेड़ें
किसी भी पहिए को
अपना शासक चुनने के लिए आजाद हैं

3

हर भेड़ तक पहुँच जाते हैं
कानून के लंबे हाथ
इन हाथों की पहुंच
हर भेड़िए तक भी होती है
पर लाख सर पटकने पर भी
भेड़ें कभी नहीं समझ पाई कि
भेड़िए का हाथ कानून के हाथ में है
या कानून का हाथ भेड़िए के हाथ में।

राजा

राजा का काम खाईयाँ खोदना नहीं
खाईयां पाटना होता है
राजा होना हथौड़ा होना नहीं होता
राजा सूई की तरह
बेतरतीब कपड़े को लिबास बनाता है
राजा बरसाती नदी की बाढ़ सा नहीं होता
राजा बाँध होता है
हर खेत तक पहुंचता है पानी होकर
राजा प्रजा को युद्ध के उन्माद में नहीं
शांति और प्रेम के साथ जिंदा रहना सिखाता है
कटीली झाड़ी नहीं होता राजा
राजा मुलायम पत्तों वाला पेड़ होता है
जिसकी छाँव में प्रजा सुकून की साँस लेती है
राजा होना बेशक ईश्वर होना नहीं है
पर इंसान होना राजा होने की अनिवार्य शर्त है

महानायक

लाख आड़ा-टेढ़ा होकर भी
सूरज उन घरों में
कभी नहीं झाँक पाता-
महानायक
जिन घरों के चिराग बुझा देते हैं

संपर्क - 93545-45440

हरियाणा के दर्शकों की अभिरूचियां

□ विकास साल्याण

हरियाणा सृजन उत्सव में 24 फरवरी 2018 को 'हरियाणा के दर्शकों की अभिरूचियाँ' विषय पर परिचर्चा हुई जिसमें फ़िल्म अभिनेता व रंगकर्मी यशपाल शर्मा, सीनियर आईएएस वीएस कुंडू, और गौरव आश्री ने अपने विचार प्रस्तुत किए। इस परिचर्चा का संचालन किया संस्कृतिकर्मी प्रो. रमणीक मोहन ने। प्रस्तुत हैं परिचर्चा के मुख्य अंश - सं.

रमणीक मोहन - हम बात करना चाहेंगे दर्शकों की अभिरुचियों की, तो मैं शुरूआत करना चाहूंगा - गौरव आश्री जी से।

गौरव आश्री – मैं एक टीवी चैनल में काम करता था। नाम था आनन्दंम टीवी। और मैं एक ट्रैवल शो बना रहा था। उस ट्रैवल शो का विषय था राम की ट्रैवलिंग। राम की ट्रैवलिंग जो अयोध्या से लेकर रामेश्वरम तक की है। इसके लिए मैंने रिसर्चिस की, रामायण पढ़ी, रामायण के एक्सपर्टस से मिला और भी बहुत कुछ। यह शो काफी महंगा बना था और शो पर खर्चा आ गया तकरीबन सात लाख प्रति एपिसोड़। पर जब यह शो बनकर तैयार हो गया और मैंने जब वो शो अपनी टेलीकास्टिंग टीम को दिया उन्होंने इसे देखा और बड़े खुश हुए, और बोले बहुत बढ़िया बना हुआ है, कमाल कर दिया। उसी दौरान मैं अपने घर आया हुआ था और वही शो मैंने अपने रिश्तेदारों व घरवालों को दिखाया तो वो ऊब गए। तब मुझे एहसास हुआ यह शो बिल्कुल ही फ्लॉप है। क्योंकि यह वास्तविक दर्शकों की समझ से बाहर उनकी अभिरुचियों के अनुसार नहीं। ऐसा क्यों हुआ ?

जब फ़िल्म टेलीविजन पर आती हैं उसके पीछे की साईंस क्या है? कौन सी फ़िल्म टेलीविजन पर काम करती है और कौन सी नहीं काम करती है। होता क्या है जब हम टेलीविजन पर कोई फ़िल्म देखते हैं तो उसमें दो-तीन चीजों का ध्यान रखा जाता है पहली बात टेलीविजन का अटेंशन स्पेस बहुत कम होता है। टेलीविजन देखते हैं तो हम चलते फिरते देखते हैं।

'पाथेर पांचाली' जैसी गम्भीर फ़िल्म देखेंगे तो उसको आराम से बैठकर पूरे ध्यान से देखना पड़ेगा क्योंकि उसको हम ऐसे चलते फिरते नहीं समझ सकते क्योंकि इमोशन्स हैं, फिलिंग्स हैं, उसके अन्दर लेयरस हैं, उनको ध्यानपूर्वक ही समझा जा सकता है। तो यह फ़िल्म टीवी पर काम नहीं करेगी क्योंकि इस वक्त आपका अटैंशन स्पेम टीवी में नहीं है. क्योंकि आपके किचन में कुछ चल रहा है खाना बन रहा है। उधर से फोन आ गया आदि-आदि। लेकिन 'टार्जन द वंडर कार' जैसी फ़िल्म के दर्शक हैं चार से चौदह साल तक के बच्चे और टेलीविजन पर देखने वालों की बात करें तो तीस प्रतिशत दर्शक चार से लेकर चौदह साल तक के बच्चे हैं और घरों में यही बच्चे टीवी का रिमोट छीन कर बैठे रहते हैं और उनको टार्जन द वंडर कार जैसी फ़िल्म देखना बहुत पसंद है। ऐसी फ़िल्में ही टीवी पर सबसे ज्यादा विज्ञापन (टीआरपी) कमाती हैं।

साऊथ इंडियन फ़िल्मों में हाई लैवल का ड्रामा होता है। इनके हर एक सीन में ड्रामा होता है। हीरो-हीरोईन को चैलेंज करता है कि तू मुझे चौबीस घंटे में आई लव यू बोलेगी और उसमें वो बोल देती है क्योंकि उसमे वो नोनसेंस हरकतें करता है जिसमें कोई तर्क नहीं होता मनोविज्ञान नहीं होता, और न ही कोई लेयर होती है। इसको हम चलते फिरते देखते हैं अगर एक शॉट भी हमने देखा या एक मिनट के लिए भी कहीं पर रुके तो हमें हाई लेवल का ड्रामा होते दिखेगा। और ऐसा ही न्यूज चैनल करते हैं एक छोटी सी खबर को इतना तेज और लाउड म्यूजिक के साथ ऐसे पेश करते है मानो कोई युद्ध छिड़ गया हो। और यही छोटी सी खबर भी टीआरपी लेकर आती है।

रमणीक मोहन - कुंडू साहब से ये पूछना चाहूंगा इन्होंने 'पाथेर पांचाली' का ज़िक्र किया मैंने 'पाथेर पांचाली' के बारे में एक दर्शक को ये कहते हुए सुना है कि 'पाथेर पांचाली' एक फ़िल्म है या डॉक्युमेंट्री। तो डॉक्युमेंट्री के कन्टेक्सट में पूरे मुल्क का तो एक अलग सीन और प्रोस्पैक्टिव होगा हरियाणा के संदर्भ में आप किस तरह से इस विधा को देखते हैं और दर्शकों की अभिरुचियों को देखते हैं और इसके लिए हम क्या कर सकते हैं ऑन स्टेज लाने के लिए लोगों के बीच में लाने के लिए?

वी.एस. कुंडू – मैं इस विषय पर मैं उस नजरिये बात करने के बजाय थोड़ा-सा जर्नलाईज तरीके से बात करना चाहूंगा। गौरव जो बात कह रहे थे वो बहुत महत्वपूर्ण बात है वो इस वजह से है महत्वपूर्ण बात कि ऑडियो-वीडियो, फ़िल्म, टीवी एपिसोड, डॉक्युमैंट्री, यू-ट्यूब पर वैब-सीरिज या शोर्ट फिल्म बनाने के साथ इन कलाओं के साथ जो व्यवसाय जुड़ा है, उस व्यवसाय के साथ अपनी अलग तरह की चुनौतियां हैं। इसमें कई बार होता क्या है कि आप एक अच्छी सृजना करते हुए भी आप सफल नहीं हो पाते

व्यावसायिक तरीके से और बॉक्स-ऑफिस पर भी चल गई और उसके बाद वो टेलीविजन पर नहीं चल रही और उससे अगर आपको रिटर्न नहीं मिल रहा है तो आप शायद थोड़ा हतोत्साहित हो जाएंगे और उस तरह का काम करना बंद कर देंगे। सृजक की सृजना को आकार देने के लिए यह व्यवसाय एक बहुत बड़ा फैक्टर है, चाहे किसी भी प्रकार की फ़िल्म का निर्माण करना हो। एक सृजक की भूमिका में हमें इसको समझना भी होगा जैसा कि यशपाल जी ने बताया। ये जरूरी भी है। इस समाज को इस मीडियम के माध्यम से एक सही तौर पर एक एक्सपोजर देने के लिए।

अब यह हो रहा है इंटरनेट के जरिए, या टेलीविजन के जरिए, मोबाइल के जरिए सब तरह कंटेंट थोपा जा रहा है। उनको कुछ मेहनत नहीं करनी पड़ती, पर जब मुझे अपने स्टुडेंट टाइम में फ़िल्म देखनी होती तो मुझ तीन घंटे लाइन में लगकर टिकट लेनी पड़ती थी। फिर तीन घंटे लाइन में लगकर फिल्म देखता था या किसी फ़िल्म की सीडी या डीवीडी लेनी पड़ती थी। तब जाकर मैं फ़िल्म देखता था, पर अब जो इतना आसान हो गया।

इस समय जो दर्शकों के पास जो मैटर आ रहा है उसमें से 99 प्रतिशत तो ऐसा है जिसमें क्वालिटी ही नहीं है, जिसमें लेयरिंग नहीं है, उसमें कला नहीं है, और इस कंटेंट का मुख्य कार्य साबुन बेचना है पानी बेचना है या किसी ओर तरह की कहानी बेचना है और इस तरह का कंटेंट लगातार-लगातार हमारे ऊपर थोपा जा रहा है। इसको सही तरीके से बैलेंस करने के लिए हमें दर्शकों को अच्छा मैटर देना पड़ेगा चाहे एक डॉक्युमैंट्री के माध्यम से दिया जाए या फ़ीचर फ़िल्म के माध्यम से। इसके बारे में चिन्तन करना बहुत जरूरी है।

इसलिए जो क्रिएटिव काम में लगे हुए लोग हैं जो ऑडियो-वीडियो बनाते हैं उनको अपने लिए एक तरीके के दर्शकों को तैयार करना पड़ेगा। हरियाणा ही नहीं हिन्दुस्तान का ऑडियंस भी ऑडियो-वीडियो के अनुसार एक मोटे तौर पर कोई एक मैच्योर ऑडियंस नहीं है आज के समय में। वो एक एंटरटेनमेंट का ऑडियंस है क्योंकि उसको कभी भी ट्रेंड नहीं किया गया।

इंग्लिश में कल्चर शब्द के बहुत सारे मायने हैं एक तो कल्चर जिसके बारे में हम यहां बैठकर बात कर रहे एक दूसरा कल्चर है जो प्रोसेस है जिसको स्थापित करने के लिए एक लम्बा टाइम देना पड़ता है उसको एक माहौल देना पड़ता है तब जाकर वह एक कल्चरल प्रोड्क्ट तैयार होता है। हमने हिन्दोस्तान में और विशेषतौर से हरियाणा में असल में कभी भी ऑडियंस को कल्चर्ल ऑडियंस के रूप में डैवलप करने की कोशिश नहीं की। न सरकार ने की है और न ही क्रिएटिव लिट्रेरी ओर्गेनाइजेशन ने की है उसमें एक बाधा ये भी बनी है कि कला के नाम पर हमारे पास बहुत अच्छी चीजें हैं पर हमारे पास लिटरेचर नहीं है। हमारे यहां सारे कल्चरल ट्रेडिशन मौखिक ट्रैडिशन के रूप हैं और मौखिक ट्रैडिशन की खासियत ये है कि वो पीढ़ी दर पीढ़ी चलते आते हैं और कमी यह है कि एक बार भी कनैक्शन टूट गया तो वहीं पर ही ट्रैडिशन खत्म। आज कि जो युवा पीढ़ी है उनके पास हमारे औरल ट्रैडिशन के एक्सपोजर तक ही नहीं पहुंच पाते तो वो कड़ी टूट रही है उस कड़ी को जोड़ने के लिए हमें अलग अल्टर्नेटिव रास्ते अपनाने होंगे।

हरियाणा का दर्शक है उसकी अभिरूचि क्या हैं? इसकी चिंता हमें न करते हुए, हमें ज्यादा चिंता इस चीज की करनी होगी कि उसकी अभिरूचि अच्छे साहित्य तक, अच्छे सिनेमा की तरफ हम कैसे ला सकते हैं और उसके लिए स्कूल-कॉलेज में, यूनिवर्सिटी में और सामान्य समाज में हम ऐसे प्लेटफॉर्मस क्रिएट करें जहां उनको अच्छा कंटेंट दिखाया जाए। गाईड़ किया जाए कि अच्छे कंटेट को कैसे पढ़ा जाए, सीखा जाए और किस दृष्टिकोण से समझा जाए और इसके लिए अच्छे कंटेंट की स्कुल कॉलेजो की ऑडियो-वीड़ियों की लाईब्रेरी तैयार की जाए और कुछ टीचर ऐसे तैयार किए जाए जो असल में उस कंटेट के बारे में स्टुडेंट को समझा सकें कि इसमें ये अच्छाई क्यो है? उस गहराई में उतरना ऑडियंस को हमें सिखाना पड़ेगा। और तभी ऐसा माहौल तैयार होगा जिससे हरियाणा से एक अच्छी सृजना होगी जिसको वर्ल्ड वाईड लेवल पर अपरिसिएट कर सकते हैं। इसमें डॉक्युमैंट्री, फ़िल्मं, शोर्ट, वैब पर कंटेंट की अच्छाई और उसके बारे में एक समझ पैदा होगी और कैसे इन सब पर चर्चा भी होनी चाहिए इसके बारे में गाईडंस देनी होगी युवाओं को तभी इस तरफ़ कुछ आगे काम होगा।

रमणीक मोहन – यशपाल जी से गुजाऱिश है अभी कुछ समय पहले हिसार में फ़िल्म फ़ेस्टीवल हो रहा था उसमें 'पंचलाईट' फ़िल्म दिखाई जा रही थी पर फ़िल्म के बीच में ही जिस कल्चर की मैं बात कर रहा था एक 'किल्की वाला कल्चर' देखने को मिला जिसे हम इम्पेशएंस (अधैर्य) वाली ऑडियंस कहते हैं बीच में यशपाल जी को फ़िल्म रोककर बातचीत करनी पड़ी थी। यशपाल जी आप तो बिल्कुल यही के रचे, बसे, पले, बढ़े हुए यहीं आपने नाटक किया फ़िल्में भी की तो आप इस सब को कैसे देखते हैं?

यशपाल शर्मा - मैं थोड़ा-सा विशाल रूप से सोचकर अब केंद्रित होना चाहता हूँ। बहुत जरूरी है केंद्रित होना क्योंकि जब हम ब्रह्माडं में देखते हैं तो हमें छोटी-सी पृथ्वी दिखाई देती है, पृथ्वी को जब हम देखते हैं तो उसमें महाद्वीप दिखाई देते हैं। महाद्वीपों में हमें छोटा-सा इंडिया दिखाई देता है, इंडिया में हम जब देखते हैं तो छोटा -सा हरियाणा दिखाई देता है और हरियाणा में इस छोटी सी जगह पर हम बैठकर बात कर रहे हैं किसी फ़िल्म की या किसी और क्रिएटिव काम की चर्चा कर रहे होते हैं तो मैं उस बिन्दु की बात कर रहा हूँ।

हम यहां बैठे हैं इस सृजन उत्सव में। यहाँ न तो नाच गाना हो

रहा न ही कोई रागनी कम्पटीशन हो रहा न ही कोई आईटम सोंग चल रहा फ़िल्में भी नहीं चल रही तो क्या डॉक्टर ने बताया कि हम इसमें भाग लें और ऐसी बाते सुनें जो चिन्तन की है, मंथन की है। तो वो चीज क्या है जिसकी वजह से हम यहां बैठे हैं?

और जैसे कल सुभाष जी ने बताया था हमने ये कल्चर डेवलप करना है हरियाणा में। क्योंकि हरियाणा के बाहर बहुत अच्छी इमेज नहीं है। हरियाणा के नाम पर उनको लगता है हरियाणा में या तो खाप पंचायत हैं या जाट आरक्षण है या मार कुटाई या रेप ये। सब बातें उनके दिमाग में आती है जबकि ऐसा नहीं है। वो भूल जाते हैं कि स्पोर्टसमैन यहाँ के क्या हैं, आर्मी यहां की क्या है , यहाँ के कलाकार कौन-कौन हैं और यहाँ कि माँओं के अन्दर अपने बेटे को आर्मी में भेजने का, पुलिस में भेजने का, देश की सेवा करने का जो जज्बा है।

पहले बोलते थे कि यहां सिर्फ एग्रीकल्चर है पर कल्चर जिस तरीके से डेवलप हो रहा है वो काबिल-ए-तारीफ है। और धीरे-धीरे अब चेंज आ रहा है जैसे फ़िल्म फ़ेस्टीवल हो रहे हैं या जैसे ये सृजन उत्सव हो रहा है या कई और भी ऐसे कार्यक्रम हो रहे हैं जिनमे मंथन चिन्तन हो रहे हैं तो मुझे लगता है कि इसी तरीके ऑडियंस चाहिए। क्योंकि इसमें हम भी जिम्मेवार हैं क्योंकि जब कोई आदमी बात कर रहा है तो सब ध्यान से सुनेंगे तो बात पहुंचेगी।

अच्छे सिनेमा की लिस्ट निकालो देखो बहुत सारी अच्छी फ़िल्में हैं माजिद मजिदी ईरानी डायरेक्टर की फ़िल्में देखें, अपने हिन्दी सिनेमा की पुरानी फ़िल्में देखें। गाइड देखिए, मदर इंडिया देखिए आदि बहुत सारा भण्डार है पर हमारी लाईफ बहुत तेज हो गई है पर हमारे पास टाइम नहीं है सब भागदौड़ में लगे हुए हैं। क्या हमारे पास थोड़ा सा भी टाइम नहीं है।

मैं इसी दर्शकों की अभिरूचियों की बात कर रहा था कि हमने अच्छी हरियाणवी फ़िल्म लास्ट टाइम कब देखी थी, हरियाणवी सिनेमा को हम कितना स्पोर्ट कर रहे हैं, थियेटर में हमने लास्ट हरियाणवी फ़िल्म कौन सी देखी थी?

रमणीक मोहन – आपका हरियाणवी फ़िल्मों और सिनेमा के साथ खास लगाव रहा है और हमने देखा अभी दो-तीन हरियाणवी फ़िल्में ऐसी रही हैं जिन्हें नेशनल लेवल के अवार्ड मिले हैं जैसे 'पगड़ी' और 'सतरंगी' । जैसे ही ये फ़िल्में सिनेमा तक पहुंची तो ऑडियंस वहाँ से गायब थी। तो उसकी वजह आपको क्या लगती है एक तो जो कुंडू साहब कह रहे थे कि हम वो टेस्ट डेवलप नहीं कर पाए या वो मार्किट वाली बात कि हरियाणवी फ़िल्मों की मार्केटिंग नहीं हो पाती है। तो आपको क्या लगता है कि क्या दिक्कत हो सकती है? और इस दिक्कत से बाहर निकलने के लिए फ़िल्म मेकर्स और आप जैसे लोग क्या नए रस्ते तलाश करने की सोचते हैं और इन फ़िल्मों को दर्शकों तक पंहुचाने के लिए क्या और रास्ता हो सकता है। जैसे मैं हरियाणवी फ़िल्मों पर कुछ काम करने की सोच रहा था मुझे सतरंगी और पगड़ी की कहीं डीवीडी नहीं मिली बाद में पता चला, इन फिल्मों की डीवीडी भी नहीं बनी क्योंकि डीवीडी को अब कोई खरीदता नहीं। तो इस पर आप प्रकाश डालिए कि हरियाणवी फ़िल्मों के एंगल से हमारा दर्शक कहाँ खड़ा है और उसे कहाँ जाना चाहिए?

यशपाल शर्मा – हमारे दर्शक जो इस तरीके से ड़ेवलप हो रहे हैं यही दर्शक हॉल तक भी जाएं। यही अपनी जेब से पैसे निकालें। पगड़ी-सतरंगी बहुत अच्छी फ़िल्में थी दोनों को नेशनल अवार्ड मिला है मैंने दोनों में काम किया है। पर जब वो ही फ़िल्में सिनेमा में गई तो सात दर्शक पहुचे थे मैंने कॉल करके फिल्म चलवाई है।

हम बाते तो बड़ी-बड़ी करते हैं पर हम बात करते हरियाणवी संस्कृति हरियाणावी सिनेमा को बचाने की और पता नी क्या बातें करते हैं। हम सौ रुपया खर्च करके हरियाणवी फिल्में देखने नहीं जाते पर कसूर हमारा भी है कि हम उनको अच्छा सिनेमा नहीं दे पा रहा जैसा कि कुंडू जी ने बताया कि अच्छा सिनेमा जब आएगा तभी तो हिट होगा। तो मेरा भी सोचना भी वही है कि दर्शक हरियाणवी सिनेमा तक कैसे पहुचे?

वी.एस.कुंडु - जो रमणीक जी ने कहा पिछले एक साल से लगभग हरियाणा में फ़िल्म पॉलिसी बनने कि जो प्रोसेस चल रही इस सरकार में, वो अभी फाईनल नहीं हुई है। वैसे उसकी मोटी स्कीम बन चुकी है क्योंकि उसमें मैं भी शामिल था। उसमे काफी चीजों पर विचार हुआ था। क्योंकि पूरे हरियाणा में 65 फ़िल्म स्क्रीन हैं और उसमे गुडगांव व फरीदाबाद की स्क्रीन निकाल दें तो हर एक जिले में एक या दो ही स्क्रीन हैं। इसका हिसाब लगाए तो फिल्म स्क्रीन के बारे में हमारी हालत दयनीय है और जितने पुराने सिंगल स्क्रीन है वो बंद हो गए क्योंकि मल्टीपलैक्स का एक कल्चर शुरू हो गया है जिसके करके सिंगल स्क्रीन का गुजारा मुश्किल में आ गया था। अब डिस्ट्रिब्युशन सिस्टम बदल गया है तो हरियाणवी फ़िल्में निश्चित तौर पर छोटे बजट की फिल्में होंगी। अगर वो बड़ी फिल्मों के साथ कम्पीट करेंगी जैसे शाहरुख खान, आमिर खान, सलमान खान या करण जौहर प्रोडक्शन के साथ मुकाबला करेंगी तो वह निश्चित तौर पर कहीं भी नहीं जा सकती। क्योंकि पच्चीस-तीस करोड़ का बजट तो खाली पब्लिसिटी का होता है हमारी फ़िल्मों का बजट इसका दसवाँ हिस्सा भी नहीं होता तो उस स्पेस के लिए हम कम्पीट नहीं कर सकते। इसलिए हमें छोटे-छोटे स्पेस क्रिएट करके इन फ़िल्मों की लगातार स्क्रीनिंग कर सकते हैं इनको दर्शकों तक लगातार पहुंचा सकते हैं अगर हम मल्टीप्लैक्स के लिए कम्पीट की बात करेंगें तो हम बिना बात के बहुत बड़ी लड़ाई मोल ले रहे हैं।

Home

मैं डॉक्युमैंट्री फ़िल्म मैकर्स को भी यही सलाह देता हूँ कि आप पन्द्रह लाख की फ़िल्म बनाकर कैसे सोच सकते हो कि दो सौ करोड़ कि फ़िल्म के साथ स्पेस के लिए कम्पीट कर लोगे। उसके स्पेस के लिए कम्पीट मत करो। अपने लिए एक खुद की ऑडिंयस तैयार करो और उसके लिए एक रास्ता तैयार करो कि कैसे आप ऑडिंयस तक पहुँच सकते हो आप एक बार अपने प्रोडक्ट को ऑडियंस तक पहुँचोगे तो ऑडिंयस आपकी फ़िल्म के साथ जुड़ेगा तो उसके साथ वह आपकी अगली फ़िल्म के लिए उम्मीद लेकर बैठेगा आपके साथ वो जुड़ना शुरू होगा। इसके लिए आप एक अलग चैनल तैयार कर सकते हो।

अविनाश सैनी - आप दर्शक पैदा कर रहे हैं या कोशिश कर रहे हैं दिक्कत ये है कि उन फैक्टरियों का क्या करें जो दूसरे तरह के दर्शक पैदा कर रहे हैं जो स्टेज शो के नाम पर हमारे गायक व कलाकार कहते हैं मारो किल्की जो यूथ फेस्टीवल में भी और दूसरी जगह पर भी है। मुझे समझ नहीं आ रहा इनका क्या करे आप कुछ बताए?

अश्वनी दहिया – पहले तो मैं 'देस हरियाणा' का जो मंच है उसका धन्यवाद करना चाहुँगा जिसने आप जैसे प्रबुद्ध जनों से रू-ब-रू होने का मौका दिया। और इतनी विस्तृत चर्चा में शामिल होने का मौका दिया ।मेरा सवाल यह है यशपाल शर्मा जी से जो आपने ऑडियस की बात की इसमें विशेषतौर पर युवाओं और बुजुर्गों को डिफाइन कर दिया कि बुजुर्ग तो लख्मीचंद के सांग सुनने के लिए बेताब हैं और यूथ में हम देखते हैं युनीवर्सिटी में, कि जब यूथ फैस्टीवल होता है एक लड़की हॉल में एंट्री करती है तो हुटिंग शुरू हो जाती है यह हुटिंग उसके लिए नहीं होती जो प्रफ्रोम कर रहा है यह हुटिंग उस लड़की के लिए हो रही है जो हॉल में एंट्री कर रही है और तब तक होगी जब तक वह अपनी सीट पर बैठ न जाए, उसके बाद फिर दूसरी लड़की के लिए फिर तीसरी लड़की के लिए ऐसे ही चलता रहता है।

बलदेव सिंह महरोक – आप उन दर्शकों की बात कर रहे हैं जो मल्टीप्लैक्स में जाकर तीन-चार सौ रुपये खर्च करके फ़िल्म देखते रहते हैं पर हरियाणा का दर्शक जो असली दर्शक हैं किसान व मजदूर के रूप में वह तीन चार सौ रुपये खर्च करके फ़िल्म नहीं देख सकता। उनके लिए बीस-तीस रुपये की टिकट चाहिए। मजदूर आदमी को शाम को मनोरंजन के लिए चाहिए सिनेमा उनके लिए कोई उपाय बताओ?

राजीव सान्याल – मुंबई में रहकर एक पूरा अहम हो जाता है कि हम एक कॉर्पोरेट वर्ल्ड के है आपने उस मानसिकता को तोड़ा है और थोड़ा समय लगेगा थोड़ी कठोर धरती है हरियाणा की निश्चिंत रहिए जो काम आप करना चाहते हैं उसमें आपको सफलता जरूर मिलेगी।

दर्शक – मेरा सवाल यह है कि आप लोग बोल रहे कि दर्शक पैदा करना चाहिए जिसकी रुचि बेहतर हो, गम्भीर हो। तो मेरा पूछना है कि इसमें सिर्फ हमारी ही जिम्मेवारी बनती है कि जो कलाकार वल्गर है उनका विरोध किया जाए क्या सरकार कि जिम्मेवारी नहीं बनती?

यशपाल शर्मा – एक आम नागरिक होने के नाते मैं यह कहता हूँ कि मैं यशपाल शर्मा सरकार के भरोसे नहीं बैठने वाला क्योंकि आज तक संसार में जितने भी महान और क्रिएटिव काम हुए हैं वो सरकार के भरोसे नहीं हुए। कोई भी क्रिएटिव आदमी न रूके सरकार के भरोसे। क्या आप अपनी क्रिएटिविटी रोक देंगे सरकार के भरोसे? क्या सृजन उत्सव रुक जाएंगे सरकार अगर मदद नहीं करेगी तो?

वी.एस.कुंडु – सरकार सही तरीके से काम करे तो उसके लिए हमें समझना होगा कि हम लोकतंत्र की बुनियादी युनिट हैं, इसमें हम वोटर के रूप में हैं उनको रास्ते पर लाकर सही तरीके से काम कराना भी समाज का ही काम है यानी वोटर का ही काम है, और किसी भी परिस्थिति में अपने समाज की कुरीतियों को सरकार पर नहीं लाद सकते और यह मैं एक आम नागरिक की हैसियत से बोल रहा हूं मैं एक सरकारी अधिकारी के रूप में नहीं बोल रहा हूँ। हम जैसे ही अपनी बुराइयों को सरकार पर लाद रहे तो हम अपनी जिम्मेवारी से भाग रहे होते हैं। हम अपने बच्चों को क्या संस्कार दे रहे हैं, हम उन्हें क्या शिक्षा दे रहे हैं। हम किस तरह के साहित्य को बढ़ावा दें रहे हैं, किस तरह की फ़िल्मों को बढ़ावा दे रहे हैं। ये हम तो जानते हैं न। हमारे बच्चे अपनी एज ग्रुप से क्या सीखेंगे उस बात पर हमारा कोई कंट्रोल नहीं है पर हम घर में क्या शिक्षा देंगे इस पर तो हमारा कंट्रोल है। हम अपने बच्चों को सूझ यही दे कि अच्छा क्या है बुरा क्या है?

समाज में एक बात हो रही कि किल्की-किल्की। किल्की का जो कल्चर है उस कल्चर को बढ़ावा देने के लिए भी तो हम जिम्मेवार हैं। एक नाटक हो रहा है जिसमें पच्चीस-तीस लोगों ने चार-पाँच महीने का एक समय लगा दिया अपने जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा न्योछावर कर दिया। उसको देखने के लिए पचास लोग भी मुश्किल से आते हैं और फूहड़ नाच-गानों के प्रोग्रामों में पाँच हजार लोग आ रहे हैं। क्या इसके बारे में हमें सोचना नहीं चाहिए कि ये क्या हो रहा है। और इसको बदलने के लिए कोई बाहर से नहीं आएगा। इसको हमें खुद ही बदलना पड़ेगा यहां पर जो अढ़ाई सौ-तीन सौ लोग बैठे हैं तो कम से कम वही यह समझ लें कि हम सभी एक ही सोच के लोग हैं जो समाज के अंदर कुछ क्रिएटिव चीजें करना चाहते हैं। इन लोगों को इकट्ठा होकर ही कोई न कोई काम करना पड़ेगा। ये जिम्मेदारी लेकर समाज में बदलाव की शुरूआत करनी पड़ेगी। जहां तक प्रश्न व्यावसायिक तरीके से समाज

में कुरीतियाँ आने का तो इसका मूल कारण पैसा है। फ़िल्म बनानी है, थियेटर बनाना है या कोई वीडियो बनानी है तो उसमें पैसा शामिल है और पैसा एक बहुत बड़ी ताकत है। उस ताकत से हमें फाईट करना होगा क्रिएटिव लोगों को अपने हथियारों से इससे लड़ना होगा। हमारे हथियार हैं आपसी संबंध। हमारे हथियार हैं यही व्हाटसएप्प और फेसबुक यही सोशल मीडिया जिसको हजार तरह की कुरीतियों के लिए प्रयोग किया जाता है। हम इसे अपने काम के लिए क्यों नहीं प्रयोग करते? ये सब लोग जो यहाँ बैठे हैं इसी चर्चा को जो, आज यहां हो रही है इसको सारा साल एक ग्रुप के माध्यम से क्यों नहीं करते। एक अच्छाई की चेन हम भी शुरू कर सकते हैं और इन सभी कुरीतियों को हम एक समाज का हिस्सा बनकर दूर कर सकते हैं एक सरकार का हिस्सा बनकर नहीं कर सकते।

यशपाल शर्मा - ये जो फैक्टरी की बात हुई थी। जो आज फैक्टरी चल रही है आज। ये हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम फूहड़ डांस में जाकर हजार-हजार रुपये लुटाएं या एक अपनी कल्चर की एक फ़िल्म में स्पोर्ट करे। हमारा ही कसूर है कि हम 'ग्रेट ग्रैंड मस्ती' और 'क्या कूल हैं हम' जैसा फिल्मों को हिट करवाए। अगर आप थोड़ी देर मंथन चिन्तन करेंगे तो आपको आपके सवालों के जवाब अपने आप ही मिल जाएंगे। मुझे ऐसा लगता है। अब धीरे -धीरे समय बदल रहा है की एक दिन में ही परिवर्तन नहीं आता। और महाराष्ट्र, केरल, बांग्ला सिनेमा की तरह हरियाणा सिनेमा भी एक दिन अच्छा होगा। हमारा सिनेमा पैसे से नहीं पैशन से बनेगा और एक मौके की तलाश है अगर एक सुपरहिट फ़िल्म हरियाणा से निकली तो यहाँ की दिशा ही बदल जाएगी।

गौरव आश्री – हर फ़िल्म कहीं न कहीं अपनी ऑडियंस ढूंढ ही लेती है। और ऑडियंस को मैं दोष नहीं देना चाहता। मैं हर तरह के दर्शक का स्वागत करता हूँ एक आर्टिस्ट के नाते मैं वो कर सकता हूँ जिस पर मेरी पकड़ मजबूत है। मैं सोच कर एक हिट फ़िल्म नहीं बना सकता। मैं एक ईमानदारी से फ़िल्म बना सकता हूँ वो अगर हिट हो गई तो किस्मत वरना कहीं न कही वो अभी अपनी ऑड़ियंश ढूंढ़ ही लेगी।

रमणीक मोहन – मैं इस सारी परिचर्चा का निष्कर्ष निकालते हुए दो ही बातें कहना चाहूँगा कि ये बातें हमारी परिचर्चा के संदर्भ में प्रासंगिक है। ये रोज के अनुभवों से निकला हुआ एक अनुभव है। देखिए हम लोग रोज बसों में भी ट्रैवल करते हैं ट्रैन में भी ट्रैवल करते हैं और मैट्रो में भी ट्रैवल करते हैं। मैट्रो में ट्रेवल करने की कुछ खास कंडिशनस आदि हैं, हम उन कंडिशन को पूरा करते हैं, मानते हैं बड़े ही आराम से हम अब उसमें ट्रैवल कर लेते हैं जबकि हम उसके आदी नहीं थे। जब ऐसा एक कल्चर डवैल्प होगा तो उस कल्चर में ढलने का काम भी धीरे-धीरे होगा जैसे मैट्रो के कल्चर में ढल जाते हैं औवर ऑल अब हम ढल चुके हैं और अब हमें पता चल चुका है कि मैट्रो में कैसे सफर करना है और जो वो स्वचालित सीढ़ियाँ हैं शुरूआत में हम घबराते थे कि कैसे पैर रखना है, अब धीरे-धीरे उसकी आदत हो गई है और पैर रखते हैं और चढ़ने लग गए। इस प्रकार कल्चर के बनने की प्रक्रिया और ढलने की प्रक्रिया साथ-साथ चलेगी। लगातार बिना हार माने, जब तक जुटे नहीं रहते उस चीज को बनाने में, तब तक किल्की के साथ भी रहना पड़ेगा और सीटी के साथ भी रहना पड़ेगा। लेकिन उसको टोकते रहना और सुधारते रहना हमारी भी जिम्मेवारी है और एजुकेशन इंस्टीटयूटंस की जिम्मेवारी रहेगी। लोक रंगकर्मियों का भी काम है, साहित्यकारों का भी काम है, यह सब का साझा काम है और साझा काम सब के संयुक्त प्रयास से होगा।

संपर्कः 9991878352

उत्सव हरियाणा सृजन

☐ सिद्दीक अहमद मेव

एक साथ इतने हैं रंग,
देख के मैं तो रह गया दंग,,
कोई गा रहा दफ पर यहां,
कोई बजा रहा है मृदंग,
उत्सव हरियाणा सृजन।

कहीं कवि बिखेर रहे हैं रंग,
कहीं हैं बच्चों के सब रंग,,
हो रही विचारों की हैं जंग,
है संस्कृतियों का ये संगम,
है सबसे उत्तम यही रंग,,
उत्सव हरियाणा सृजन।

सजी हुई हैं यहां किताबें,
मैगजीनों के बिखेरे हैं रंग,,
आर्ट रंग चित्रकार यहां पे,
पम्फलेटों के बिखरे रंग,
हैं साहित्य का ये संगम,
उत्सव हरियाणा सृजन।

कोई दिल्ली से कोई चण्डीगढ,
कोई बिखेर रहा मुंबइया रंग,
बंगाल के रंग पंजाब रंग,
हैं बांगर- मगर का संगम,
उत्सव हरियाणा सृजन।

यहां धर्म मजहब और जाति नहीं,
संस्कृति के सब बिखेरे रंग,
कदम से कदम मिला साथी,
फिर देख प्यार के सुन्दर रंग,
हिन्दू-मुस्लिम और सिख यहां,
सब रंगे हुए हैं एक रंग,
उत्सव हरियाणा सृजन।

लेखक, विचारक और कवि,
रंगकर्मी अभिनेता हैं संग
सब की वाणी मे गूंज रही,
मीठी-मीठी सुन्दर सरगम,
भिन्न-भिन्न बिखरे हैं रंग,
उत्सव हरियाणा सृजन।।

मो. - 9813800164

Home

सृजन की राह में लघु-कथा

□ राधे श्याम भारतीय

हरियाणा सृजन उत्सव में 24 फरवरी 2018 को 'सृजन की राह में- लघुकथा' विषय पर परिसंवाद आयोजित हुआ, जिसमें डॉ. अशोक भाटिया, रामकुमार आत्रेय व कमलेश भारतीय ने भाग लिया। डॉ भाटिया ने लघुकथा की सृजन प्रक्रिया पर, रामकुमार आत्रेय ने लघुकथा विधा की प्रसिद्धि के कारणों पर, तथा कमलेश भारतीय ने हरियाणा के लघुकथाकारों के योगदान पर प्रकाश डाला। अम्बाला से कुणाल शर्मा, सिरसा से वीरेन्द्र भाटिया, कुरुक्षेत्र से कमलेश चौधरी, करनाल से राधेश्याम भारतीय, सतविन्द्र राणा व सोनीपत से डॉ अशोक बैरागी ने लघुकथाओं का पाठ किया। इस सत्र का संयोजन राधेश्याम भारतीय ने किया। प्रस्तुत हैं इसकी एक संक्षिप्त रिपोर्ट-सं.

सीमाएं

सतविन्द्र कुमार राणा

राम के हाथ के अंगूठे पर चोट लग गई। मरहम पट्टी की गई। पर एक समस्या ने घेर लिया। पशुओं को कैसे दूहा जाए? चोटिल अंगूठे से ये काम सम्भव नहीं था। पड़ोसी भी हाथ खड़े कर गए। फिर घरेलू नौकर से ही यह काम करवाया गया।

"बेटा! इब तो तेरा अंगूठा ठीक हो गया है। तू दूह लिया कर नै पशुओं को।"

माँ ने राम को कहा।

"वो शेरू दूह तो लेता है माँ।"

"अरे! राम राम! वो तो अछूत है और उसके हाथ से दूहा दूध हम पी..... ?"

"क्या कह रही हो माँ? वह भी इंसान ही है। कोई इंसान कैसे अछूत हो सकता है?"

"अरे बावले! ये इंसानों के बीच सीमाएं तो भगवान ने ही बनाई हैं। हमें तो इन सीमाओं का कैदा बरतना ही पड़ता है। हम भगवान से ऊपर तो ना हो सकें।"

"भगवान ने तो हम सब को इंसान ही बनाया है माँ। ये सीमाएं तो हम इंसानों ने ही....."

"बस रे! फ़ालतू कचर-कचर ना कर। हमसे ना पीया जावै उसके हाथ से दुहा दूधा।"

"पिछले एक महीने से तो आराम से पी रहे हो उसके हाथ से दूहा दूध?"

माँ निःशब्द।

❍

मुक्ति

कुणाल शर्मा

उसके पिता की इच्छा थी कि उनकी अस्थियाँ गंगा में प्रवाहित की जाये। उसकी गांठ में जो पैसा था, वह तो अंत्येष्टि-क्रिया में ही लग गया था। अब अस्थि-विसर्जन और तेरहवीं के कर्मकांड बाकी थे। रिश्तेदारों से कुछ रुपये उधार लेकर अस्थि-विसर्जन के लिए उसने हरिद्वार की ट्रेन पकड़ ली। पिता की मौत से दुखी वह इसी उधेड़बुन में था कि तेरहवीं के लिए किसके आगे हाथ पसारेगा। उसकी हालत तो इतनी खस्ता थी कि वह हर रोज कुआँ खोदता और पानी पीता था। आने वाले खर्च के बारे में सोचकर उसके माथे पर चिन्ता की लकीरें खिंच गई थी। ट्रेन स्टेशन पर रुकी। वह गले में अस्थियों की पोटली बांधे गंगा घाट को चल दिया। उसे देखते ही हाथ पसारते भिखारियों की चौकड़ी उसके पीछे लग गई। कुछ के हाथों में पैसे टिकाकर तो कुछ को डांट-डपटकर उसने उनसे अपना पीछा छुड़ाया। सफेद वस्त्र और मुँडे सिर को देखते ही घाट पर पंडो ने गिद्धों की तरह उसे घेर लिया। इधर-उधर से पड़ताल कर वह बड़ी जहमत से अपने कुल के पंडे तक पहुँचा। पंडे ने अस्थि-विसर्जन की तैयारी शुरू की। पंडे के मंत्र रूपी बाण सीधे उसकी जेब पर प्रहार कर रहे थे। कभी इस नाम के तो कभी उस नाम के पैसे। हर मंत्र के साथ उसकी जेब से पचास-सौ ढीले हो रहे थे। वह अंदर तक भुन चुका था और उसकी मुट्ठियाँ भिंची जा रही थी। पंडा भी उसके चेहरे पर उतरे गुस्से को भांप गया था। इसलिए बिना और देर किए उसने आखिरी पटकनी दी, '' यजमान, गऊदान के ग्यारह सौ रुपये।''

वह तमतमाते हुए उठा और स्वयं ही पिता की अस्थियाँ गंगा में बहा दी। अब वह हल्का महसूस कर रहा था

संपर्क - 97280-77749

दलित जब लिखता है

□ डॉ. विजय विद्यार्थी

हरियाणा सृजन उत्सव में 24 फरवरी 2018 को 'दलित जब लिखता है' विषय पर परिचर्चा हुई जिसमें प्रख्यात दलित कवि मलखान सिंह तथा कहानीकार रत्न कुमार सांभरिया ने परिचर्चा में शिरकत की। अपने अनुभवों के माध्यम से भारतीय समाज व दलित साहित्य से जुड़े ज्वलंत और विवादस्पद सवालों पर अपने विचार प्रस्तुत किए। मलखान सिंह ने इस अवसर पर अपनी दो कविताएं सुनाई। इस परिचर्चा का संयोजन अंग्रेजी एवं विदेशी भाषा विश्वविद्यालय, हैदराबाद के अंग्रेजी विभाग में एसिस्टेंट प्रोफेसर पद पर कार्यरत सामाजिक-साहित्यिक चिंतक जय सिंह ने किया। प्रस्तुत हैं परिचर्चा के मुख्य अंश - सं.

जय सिंह- हाशिये का दर्द अपने आप में एक बहुत बड़ा दर्द है। दलित वर्ग के सामने जाति, धर्म, वर्ण, ऊंच-नीच आदि अनेक बाधाएं एवं चुनौतियाँ कदम-कदम पर खड़ी हैं, जिनसे दो-दो हाथ करते हुए दलित व्यक्ति को आगे बढ़ना है। दलित के दर्द को कोई सुनना नहीं चाहता। दलित जब लिखता है तो वह बहुत बड़े संघर्ष से होकर गुजरता है।

रत्न कुमार सांभरिया- वास्तव में हिंदू में धर्म वर्ण तो तीन ही हैं। ब्राह्मण, क्षत्रीय और वैश्य। चौथा शूद्र वर्ण वर्ण नहीं है, बल्कि एक वर्ग है। जिसमें छह हजार से ज्यादा जातियां आती हैं। शूद्र, अति शूद्र, दलित, पिछड़े सभी इसी वर्ग में आते हैं, जो पहले भी वर्ग था और आज भी वर्ग ही है। बाबा साहब डॉ. भीमराव अंबेडकर के प्रथम गुरू गौतम बुद्ध हैं। बुद्ध भारत के प्रथम महापुरुष हैं, जिन्होंने दलित-पिछड़ों को गले लगाया और उन्हें धम्म दीक्षा दी। गौतम बुद्ध का एक प्रसंग आता है कि एक बार वह एक नगर से जा रहे थे तो सुनीत नामक भंगी गली में झाड़ू लगा रहा था। बुद्ध जब उस भंगी के पास पहुंचे तो वह व्यक्ति थोड़ा पीछे हट गया ताकि बुद्ध से वह छू न जाए क्योंकि उसे अछूत माना जाता था। गौतम बुद्ध थोड़ा और उसके पास आये, तो वह डर कर पीछे हट गया। बुद्ध आगे बढ़ते गये और सुनीत पीछे-पीछे हटता गया। अंत में वह दीवार से सट कर खड़ा हो गया। लेकिन गौतम बुद्ध ने उसे गले लगाया, दीक्षा देकर उसे संघ में शरण दी। इसलिए तथागत बुद्ध दलित लेखकों के प्रेरणास्रोत हैं। दलित साहित्य किसी से भेदभाव नहीं करता। दलित साहित्य में नफरत और भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है। दलित लेखक बुद्ध, कबीर, रविदास, फुले सरीखे महापुरूषों को अपना आदर्श मानते हैं और इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

बाबा साहब के दूसरे गुरू संत कबीर हैं, जिन्होंने कहा, जे तू बामन बामनी का जाया। तो आन बाट, काहे नहीं आया। यह अपने आप में एक बहुत बड़ी चुनौती है। इसी प्रकार मीरा बाई जैसी महारानी ने भी संत रविदास को अपना गुरु बनाया जो जातिवाद के ऊपर एक बहुत बड़ा प्रहार है। महात्मा फूले को बाबा साहब ने अपना तीसरा गुरु माना जो पेशवाओं की धरती से आते हैं। जहां दलितों के मुंह के आगे हांडी और पीछे झाड़ू बंधी होती थी ताकि इनकी थूक धरती पर ना गिरे और झाड़ू से इनके कदमों के निशान मिटते चले जाएं। इसी भयावह स्थिति से निपटने के लिए फूले ने अन्त्यज वर्गों के लिए स्कूल खोले। ज्योतिराव फूले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई फूले को पढ़ाया जो भारत देश की प्रथम महिला शिक्षिका बनीं। जिन्होंने आगे चलकर महिलाओं को पढ़ाने का काम शुरू किया। उन्हें भी समाज ने तिरस्कृत किया। उन पर गोबर और कीचड़ फेंका गया था। उन्होंने महिलाओं को पढ़ाना बंद नहीं किया बल्कि अपने साथ दो साड़ियां रख लीं। जितने भी तथागत बुद्ध से लेकर बोधिसत्व बाबा साहब तक के महापुरुष हैं, ये सभी दलित लेखन के प्रेरणा स्रोत हैं। मेरी प्रथम कहानी "फुलवा" हंस में छपी थी, जो आज देश के दस विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाती है।

आज दलित वर्ग का युग परिवर्तित हो रहा है। एक बार मुझे लखीमपुर खीरी एक प्रोग्राम में बुलाया गया। प्रोग्राम के अगले दिन लेखकों को राष्ट्रीय वन्य जीव उद्यान में हाथी पर बैठाकर घुमाया गया। ये वही जंगल है, जिनमें मेरे पिता जी 1970 के दशक में लकड़ी काटा करते थे। एक युग में इन जंगलों में हमारे पूर्वज लकड़ी काटते थे और आज इन्हीं जंगलों में शिवमूर्ति और मुझ जैसे दलित लेखकों को हाथी पर घुमाया जाता है। यह अपने आप में एक बहुत बड़ा बदलाव है। आज दलित का युग बदल रहा है, उसके पास कोई दूसरा हथियार नहीं हे, उसके पास सिर्फ शिक्षा है। शिक्षा से ही दलित समाज अपनी दशा आौर दिशा बदल सकता है।

मलखान सिंह- गोर्की का कथन है - संस्कृति के निर्माताओं तय करो कि किस ओर हो तुम। मुक्तिबोध की पंक्ति है, 'अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे'। दलित कविता इन सारे खतरों को उठा रही है। लेकिन समाज सुनने को तैयार नहीं है।

आज भारतीय समाज टूटने के कगार पर जा पहुंचा है। ये ऊपर से जितना सुंदर दिखाई देता है अंदर से उतनी ही सड़ांध आती है। भारत की जाति-व्यवस्था और ब्राह्मणवाद व्यक्ति को बौना बना रहा

है। सिर्फ दलित ही नहीं बल्कि प्रत्येक व्यक्ति इस जाति-व्यवस्था से पीड़ित है। आज दलित भी खूब ब्राह्मणवादी हैं, वो मंदिर जाते हैं, आज जब देवी आती है तो वह दलित व्यक्तियों में ही सबसे ज्यादा आती है। व्रत, पूजा-पाठ में सबसे ज्यादा दलित समाज लिप्त है। इस ब्राह्मणवाद से कोई नहीं बचा है। दलित साहित्य का सौंदर्य बोध मानवीय समानता पर विश्वास करता है। यह मान कर चलता है कि जन्म से सभी समान हैं। समता मूलक समाज की समानता इस सौंदर्य बोध के अंतर्गत आते हैं।

एक बार अमेरिका में जब ब्लैक लिटरेचर लिखा जा रहा था तो एक गोरे ने एक काले व्यक्ति से पूछा था कि क्या मेरे द्वारा लिखा हुआ साहित्य ब्लैक लिटरेचर नहीं हो सकता। तब उस काले व्यक्ति ने जवाब देते हुए कहा था कि एक दिन के लिए आप मेरी काली चमड़ी पहन कर मेरे घर में बिता दीजिए। तब आपको मालूम पड़ेगा कि ये गोरे अंग्रेज काले व्यक्ति के साथ कैसा भेदभाव करते हैं। आप को खुद ज्ञात हो जाएगा कि क्या गोरे व्यक्ति का लिखा हुआ साहित्य ब्लैक लिटरेचर हो सकता है कि नहीं। बिल्कुल यही स्थिति दलित साहित्य के साथ है। दलित व्यक्ति ने समाज के तमाम कार्य किए, पैर धोए, झाड़ू लगाया, मरे मवेशी उठाए इत्यादि लेकिन फिर भी दलित आज भी अछूत का अछूत ही है।

सारे सवालों के जवाब खुद ही देने होंगे क्योंकि जब सवाल आपके पास हैं तो जवाब भी आपके ही पास है।

संपर्क 98175-54004

मलखान सिंह

सफ़ेद हाथी

गाँव के दक्खिन में पोखर की पार से सटा,
यह डोम पाड़ा है -
जो दूर से देखने में ठेठ मेंढ़क लगता है
और अन्दर घुसते ही सूअर की खुडारों में बदल जाता है।

यहाँ की कीच भरी गलियों में पसरी
पीली अलसाई धूप देख मुझे हर बार लगा है कि-
सूरज बीमार है या यहाँ का प्रत्येक बाशिन्दा
पीलिया से ग्रस्त है।
इसलिए उनके जवान चेहरों पर
मौत से पहले का पीलापन
और आँखों में ऊसर धरती का बौनापन

हर पल पसरा रहता है।
इस बदबूदार छत के नीचे जागते हुए
मुझे कई बार लगा है कि मेरी बस्ती के सभी लोग
अजगर के जबड़े में फंसे ज़िन्दा रहने को छटपटा रहे है
और मै नगर की सड़कों पर कनकौए उड़ा रहा हूँ।
कभी - कभी ऐसा भी लगा है कि
गाँव के चन्द चालाक लोगों ने लठैतों के बल पर
बस्ती के स्त्री पुरुष और बच्चों के पैरों के साथ
मेरे पैर भी सफेद हाथी की पूँछ से
कस कर बाँध दिए है।
मदान्ध हाथी लदमद भाग रहा है
हमारे बदन गाँव की कंकरीली
गलियों में घिसटते हुए लहूलूहान हो रहे हैं।
हम रो रहे हैं / गिड़गिड़ा रहे हैं
जिन्दा रहने की भीख माँग रहे हैं
गाँव तमाशा देख रहा है
और हाथी अपने खम्भे जैसे पैरों से
हमारी पसलियाँ कुचल रहा है
मवेशियों को रौंद रहा है, झोपड़ियाँ जला रहा है
गर्भवती स्त्रियों की नाभि पर
बन्दूक दाग रहा है और हमारे दूध-मुँहे बच्चों को
लाल-लपलपाती लपटों में उछाल रहा है।
इससे पूर्व कि यह उत्सव कोई नया मोड़ ले
शाम थक चुकी है,
हाथी देवालय के अहाते में आ पहुँचा है
साधक शंख फूंक रहा है / साधक मजीरा बजा रहा है
पुजारी मानस गा रहा है और बेदी की रज
हाथी के मस्तक पर लगा रहा है।
देवगण प्रसन्न हो रहे हैं
कलिया भैंसे की पीठ चढ़ यमराज
लाशों का निरीक्षण कर रहे हैं।
शब्बीरा नमाज पढ़ रहा है
देवताओं का प्रिय राजा मौत से बचे
हम स्त्री-पुरूष और बच्चों को रियायतें बाँट रहा है
मरे हुओं को मुआवजा दे रहा है
लोकराज अमर रहे का निनाद
दिशाओं में गूंज रहा है...
अधेरा बढ़ता जा रहा है और हम अपनी लाशें
अपने कन्धों पर टांगे संकरी बदबूदार गलियों में
भागे जा रहे हैं / हाँफे जा रहे हैं
अँधेरा इतना गाढ़ा है कि अपना हाथ
अपने ही हाथ को पहचानने में
बार-बार गच्चा खा रहा है।

मलखान सिंह की कविता
सुनो ब्राह्मण

हमारी दासता का सफर
तुम्हारे जन्म से शुरू होता है
और इसका अंत भी
तुम्हारे अंत के साथ होगा

2

सुनो ब्राह्मण
हमारे पसीने से
बू आती है तुम्हें।

फिर ऐसा करो
एक दिन अपनी जनानी को
हमारे जनानी के साथ
मैला कमाने भेजो।

तुम! मेरे साथ आओ
चमड़ा पकाएंगे
दोनों मिल बैठ कर।
मेरे बेटे के साथ
अपने बेटे को भेजो
दिहाड़ी की खोज में।

और अपनी बिटिया को भेजो
हमारी बिटिया के साथ
भेजो कटाई करने
मुखिया के खेत में।

शाम को थक कर
पसर जाओ धरती पर
सुंघो खुद को
बेटे को
बेटी को
तभी जान पाओगे तुम
जीवन की गंध को
बलवती होती है जो
देह की गंध से

3

हम जानते हैं
हमारे सब कुछ
भौंडा लगता है तुम्हें।
हमारी बगल में खड़ा होने पर
कद घटा है तुम्हारा
और बराबर खड़ा देख
भवें तन जाती हैं।
सुनो भू-देव
तुम्हारा कद
उसी दिन घट गया था
जिस दिन कि तुमने
न्याय के नाम पर
जीवन को चौखटों में कस
कसाई बाड़ा बना दिया था।
और खुद को शीर्ष पर
स्थापित करने हेतु
ताले ठुकवा दिए थे
चौमंजिला जीने पे।
वहीं बीच आंगन में
स्वर्ग के नरक के
ऊंच के नीच के
छूत के अछूत के
भूत के भभूत के
मंत्र के तंत्र के
बेपेंदी के ब्रह्म के
कुतिया, आत्मा, प्रारब्ध
और गुण-धर्म के
सियासी प्रपंच गढ़
रेवड़ बना दिया था
पूरे के पूरे देश को।

तुम अकसर कहते हो कि
आत्मा कुंआ है
जुड़ी है जो मूल सी
फिर निश्चय ही हमारी घृणा चुभती होगी तुम्हें
पके हुए शूल सी।
यदि नहीं-
तुम सुनो वशिष्ठ!
द्रोणाचार्य तुम भी सुनो
हम तुमसे घृणा करते हैं
तुम्हारे अतीत
तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं

मत भूलो कि अब
मेहनतकश कंधे
तुम्हारे बोझ ढोने को
तैयार नहीं हैं
बिल्कुल तैयार नहीं है।

देखो!
बंद किले से बाहर
झांक कर तो देखो
बरफ पिघल रही है
बछड़े मार रहे हैं फुर्री
बैल धूप चबा रहे हैं
और एकलव्य
पुराने जंग लगे तीरों को
आग में तपा रहा है

संपर्क - 97593-64554

थिएटर ऑफ़ रेलेवंस

□ स्मृति राज

हरियाणा सृजन उत्सव में 24 फरवरी 2018 को 'थिएटर ऑफ रेलेवंस' के जनक मंजुल भारद्वाज से रंगकर्मी दुष्यंत के बीच परिचर्चा हुई और मौजूद श्रोताओं ने इसमें शिरकत की। प्रस्तुत है इस संवाद की रिपोर्ट। सं.

दुष्यंत : मंजुल भारद्वाज का काम रंगकर्म से जुड़ा हुआ है। उसका नाम रखा गया थिएटर ऑफ़ रेलेवंस। प्रासंगिकता का रंगकर्म, रंगमंच। यह प्रासंगिकता है क्या? यह सिद्धांत है क्या?

मंजुल भारद्वाज : (हंसते हुए) थिएटर ऑफ़ रेलेवंस इसकी मैं व्याख्या करूं इसके पहले मैं थोड़ी सी, 120 सेकंड में अपना थोड़ा सा अनुभव रखूं। फिल्में जबरदस्त प्रभाव डालती हैं। हर कोई जो रंगकर्म में आना चाहता है, वह फिल्में देख करके... कई बात सुनकर... उसे लगता है कि मुझे एक्टर बनना है। मेरे सामने भी यह हुआ कि एक्टर बनना है और सीधे उस महानायक की छुट्टी कर देनी है। उसके लिए सबसे बढ़िया कर लेते हैं हम, कि वह हैमलेट और शेक्सपियर के नाटक पसंद करते हैं, तो हमने भी हैमलेट प्रोड्यूस किया। हैमलेट किया उस नुमाइशी रंगगृह, पृथ्वी थिएटर में हैंमलेट खेला और जब खेला तो रहना या नहीं रहना इस कंफ्यूजन को हमेशा के लिए दूर कर दिया। बहुत फेमस लाइन हैं उनकी "टू बी ओऱ नॉट टू बी इज़ द कुएशचन"। और वह हुआ यह कि वो प्रोड्यूस कर लिया लेकिन चौथे शो के बाद क्लाडियस नाम का एक कैरेक्टर, उसकी आंख की पलक बच गए और वह शो चौथे शो के बाद बंद हो गया।

यह जानना इसीलिए जरूरी है क्योंकि सिद्धांत किताब से आता है, कि सिद्धांत जीवन से आता है, सिद्धांत किताब में लिखा जाता है, या सिद्धांत जीवन चलाता है। उस वक्त मेरी उम्र रही है 20 से 21 साल और मैं किराए के एक मकान में एंटॉप हिल नाम का एक सेक्टर 8 है वहां बंद हो गया। सामने वह महल का सेट... बरसात में... चार महीने की बरसात होती है मुंबई में। वह गल रहा था और अंदर कहीं मैं गल रहा था।

और उसके बाहर जहां हम चाय पीते हैं एक छोटी सी दुकान होती है। वह आदमी मुझे रोज जब मैं बाहर निकलता था तब वह बोलता था, आप के नाटक-वाटक का क्या हुआ? आप के नाटक-वाटक का क्या हुआ? और उसने लगातार वह बात सौ दिन तक बोली। पहले गुस्सा आया, झुंझलाहट हुई, कि उसको क्या कुरेदने में मजा आ रहा है, लेकिन जब मैंने उसकी बात सुनी, वह यह कह रहा है कि आपका नाटक-वाटक कब होगा? सो मैंने कहा कि यह आदमी यह क्यों नहीं कह रहा है कि मेरा नाटक कब होगा? और वहां से थिएटर ऑफ़ रेलेवंस की शुरुआत हुई। वह मजदूर, कारीगर, वह सड़क का व्यक्ति, वह ठेला लगाने वाला, इस नाटक की दृष्टि देने के लिए जिम्मेदार है। और तब से थिएटर ऑफ़ रेलेवंस नाम का कांसेप्ट इस दुनिया में आया। इसमें एक ही बात की, थिएटर ऑफ़ रेलेवंस में दर्शक सबसे पहला रंगकर्मी है। हम अक्सर जानते हैं कि यह ऐक्टर बहुत बड़ा है लेकिन उस ऐक्टर को लाइन देने वाले को हम भूल जाते हैं। सो यह वहां से शुरुआत हुई की एक दर्शक सबसे पहला और सशक्त रंगकर्मी है। और दूसरा इस सिद्धांत का नियम है, की नाचने गाने वाले शरीर कलाकार नहीं होते। वह व्यक्ति कलाकार है जिसके पास दृष्टि है कि वह नाच क्यों रहा है और गा क्यों रहा है, और उसकी पक्षधरता क्या है?

दुष्यंत: आपने बात कही पक्षधरता की, असल में पक्षधरता का रंगमंच आप करते आए हैं। पॉलिटिकल एलिमेंट्स को आप लेते आए हैं। बहुत सारी इस तरह की वर्कशॉप आपने की हैं। यह कैसे पैदा हुआ? यह ग्रुप क्या हैं कौन लोग हैं? हमारे साथ शेयर कीजिए कि किस प्रकार से आपका ग्रुप काम करता है। कितने लोग हैं किस तरह से आप इन सब को लेकर चलते हैं?

मंजुल भारद्वाज: संवाद व्यक्ति की जरूरत रही है, समाज की जरूरत रही है, देशों की जरूरत रही है। पहले हम सम्मान कला से करते थे लेकिन आज 1990 के बाद हमारा संवाद सीमित हो गया है। और वह संवाद है खरीदो और भेजो। डब्ल्यूटीओ नाम का एक संगठन जो दुनिया को लूटने पर आमादा है, उसने यह संस्कृति चलाई है, कि खरीदो और बेचो। खरीदो और बेचो के जो बाहर है वह कला है। क्योंकि कला को खरीदा और बेचा नहीं जा सकता। कला मनुष्य का निर्माण करती है।

हमारा पहला प्रयोग 6 दिसंबर 1992 में हुआ। आपको मालूम है कि क्या हुआ मुंबई में।1993 जनवरी में मुंबई जला और हमारे कलाकारों ने बांद्रा नाम का एक जगह है, वहां बहरामपाड़ा है और वहीं पर बाल ठाकरे साहब का भी घर है। वहां पर जो मारकाट हुई उसमें हमारी टीम ने जाकर कर्फ्यू बाउंड एरिया में नाटक खेला, "दूर से किसी ने आवाज दी"

जब हमने नाटक शुरू किया तो लोग तलवारें लेकर आ गए थे। लेकिन जब नाटक खत्म हुआ था तब हमने बोला था "इंसान!" और उन्होंने बोला था "जिंदाबाद!" और यही जो आवाज़ है यह हमारा प्राण है। हम कोई दिखावा नहीं करते, नुमाइश नहीं करते। जब जनता का संवाद रखा जाएगा तो जनता की आवाज को कोई दबा नहीं सकता। यहां बहुत बड़े लेखक है, उनको नोबेल भी मिला है। वह बहुत कंफ्यूजिंग सी बात करते हैं। वह कहते हैं कि राजनीति का थिएटर की अलग समस्याएं हैं। मैं यह कहता हूं कि वह थिएटर ही नहीं है जिसमें राजनीति नहीं है।

रंगकर्म जिंदा तस्वीरें हैं! हम कोई फोटोग्राफ नहीं हैं जो दीवार पर टांग दिए जाएं। यह जो मूल संकल्पना है, रंगकर्म जिंदा होने की आवाज है! आज के रूलिंग स्ट्रेटेजी है कि आप जनता को इतना कंफ्यूज कर लो कि वह सिरे ही खोजते रहे। सत्ता जो हैं वह हमेशा रंगकर्मियों से डरती है, और इसलिए डरती है क्योंकि रंगकर्मी विद्रोही होते है। वह अपने आप से विद्रोह करते हैं, उस विद्रोह को दबाने के लिए सत्ता उसको भोग-विलास या बहुत सारे संस्थान चलाती है। कौन सी ऐसी विधा हैं जो आपके व्यक्ति और व्यक्तित्व पर काम करती है?और वह सिर्फ और सिर्फ रंगकर्म हैं!

दुष्यंत: मेरा प्रश्न यह था कि आप जो रंगकर्म कर रहे हैं उसमें वह ग्रुप कैसे काम करता है? और वह ग्रुप अपने आप में आर्थिक पक्ष को कैसे झेलता है और राजनीतिक और सामाजिक पक्ष को कैसे झेलता है?

मंजुल भारद्वाज: हमारे जो कलाकार हैं, या हम जो कार्य करते हैं वह मीडिया की सुर्खियों के परे होकर काम कर रहे हैं। 1993 में मजदूरों ने बुलाया था हमें नाटक करने के लिए तो उन्होंने कहा कि भाई हमारे पास तो पैसे नहीं हैं हम कैसे करेंगे। मैंने कहा कि आप क्या करते हो तो बोले कि हम दिहाड़ी काम करते हैं। सो मैंने कहा आप कितने लोग हैं? तो बोले कि हम 300 लोग हैं जो बस्ती में रहते हैं। तो हमने कहा 10-10 रुपए कंट्रीब्यूट कर लीजिए। और हमारे जो ग्रुप के साथी कलाकार हैं वह बांद्रा से मान खुर्द गए थे नाटक करने, 505 नंबर की बस थी, 5 रुपए का टिकट था आना और जाना। तो मैंने कहा 300 रुपए आप हमको दे दीजिए। और उसके बाद वह नाटक परफॉर्म हुआ, मजदूरों की बस्ती का संगठन बना और उन मजदूरों को यह विश्वास हुआ कि हम भी एकत्र होकर कोई प्रोग्राम कर सकते हैं। यह सवाल आता ही क्यों हैं कि हम आर्थिक रुप से सरवाइव कैसे करेंगे! क्या यह जनता मर गई हैं क्या? मुझे आज कोई बता दीजिए कलाकार जिसमें कला हो और भूख से मर गया हो।

हम लिख सकते हैं कि भूखे बचपन को बचाना हैं। लेकिन जब हम रात को खाना खाते हैं तो आधा खाना बाहर रख कर फेंक देते हैं। सवाल यह है, सवाल यह है कि गाना गाया जाता है और सोमरस लगाकर गाया जाता है। कलाकारों को केवल जनता को शुद्ध नहीं करना है। क्योंकि कला सतत शुद्धिकरण की प्रक्रिया है। तो जो शुद्ध नहीं करता वो प्रोडक्ट है। क्या बाजार में बिकने वाला हर जिस्म कलाकार है क्या? और कलाकार प्रोडक्ट नहीं हो सकता। और कलाकार प्रोडक्टाइजेशन का हिस्सा नहीं है। हमारे बहुत सारे फिल्म में काम करने वाले कलाकार हैं, जब उनकी तूती बोलती है तो बहुत बढ़िया बाद में बोलते हैं हालत खराब। क्यों? क्योंकि उनके कला का मेहनताना तो वह ले लेते हैं लेकिन मिल्कियत नहीं ले पाते हैं। और हमारा अर्थ है कि जनता हमारी मिल्कियत है!

दुष्यंत (ऑडियंस से) : और भी कोई सवाल हैं तो आप प्लीज पूछ सकते हैं।

कॉमरेड दिलीप: मंजुल भाई, पहले जिंदगी जिंदगी होती थी। आजकल जिंदगी मुखौटे हो गए हैं। थिएटर ऑफ़ रेलेवंस वह मुखौटे उतारकर असली जिंदगी, जो कला हैं, वह आ जाए यही काम हुआ है।

मंजुल भारद्वाज: जी बिल्कुल कॉमरेड! मैं एक बात कहना चाहता हूं कि जिस शेक्सपियर से शुरुआत की थी मैंने नाटक की, पिछले 2 साल पहले एक पेरिस की मैगजीन में इंटरव्यू लेने आई, उन्होंने कहा "व्हाट डू यू थिंक अबाउट शेक्सपियर?" एंड आई सेड, "शेक्सपियर इज द च्युइंगम ऑफ लिटरेचर!"

यह उपनिशवाद जो है, यह हमें बाहर निकालना है। यह उन्होंने हंसते, बातें करते, मजाक में कह दिया होगा की "ऑल द वर्ल्ड इज़ स्टेज" हम थिएटर ऑफ़ रेलेवंस में यह दृष्टि करते हैं, जिंदगी नाटक नहीं हैं । अगर आप बाप हैं तो असली के हैं आप बच्चे हैं तो असली के हैं। तो यह भ्रांतियां निकाल दीजिए। नाटक वह है जो सोच समझ कर किया जाए और जिंदगी वह है जो अपने आप चलती रहे। यह दृष्टि जो है, हमें क्लियर करनी हैं, साफ करनी हैं।

यशपाल शर्मा: बहुत-बहुत बधाई हो आपको पहले तो, बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। और दुष्यंत के साथ भी मैं काफी रहा हूं तो यह जानकर आपके बारे में बहुत बढ़िया लगा। लेकिन आपकी एक बात से मैं थोड़ा सा सहमत नहीं कि मैं यह मानता हूं कि थिएटर ही व्यक्तिगत विकास के लिए सबसे बेस्ट चीज हैं। कट्टरपंथता हर

जगह आ गई है। सिर्फ और सिर्फ रंगमंच ही, इसका मतलब है कि गुलजार साहब जो कर रहे हैं वह ठीक नहीं हैं उतना। या पैडमैन, आप थिएटर का एक नाटक दिखाते हैं, की लड़कियों को बचपन से शिक्षा दें, इस तरीके की पैड की या टॉयलेट एक प्रेम कथा जो फिल्म थी, एक टॉयलेट के बारे में जागृति देना, जो हम हजार लोगों के सामने कर सकते हैं। लेकिन एक फिल्म के जरिए करोड़ों लोगों के सामने कर सकते हैं तो उसमें क्या बुराई है? क्यों नहीं हम उन चीजों को स्वीकार करते हैं, कि हर विधा की, मैं आज तक थिएटर कर रहा हूं 1984 से 35 साल से अभी भी कर रहा हूं, 13 नाटक चल रहे हैं मेरे, लेकिन मेरा जो मकसद है, फिल्मों में आने का जो मकसद हैं, वह कुछ अलग है। मैं उस तरीके से सिर्फ पैसे की सीढ़ी बनाकर नहीं जाना चाहता हूं।

हम क्यों ना सब कोई मिलकर सारे विधाएं, एम एफ हुसैन की पेंटिंग, क्या पेंटर के कला से व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता किसी पेंटर का या किसी गीतकार का? कल जो पातर साहब आए थे, सुरजीत जी, वह भी तो अपने आप में एक व्यक्तित्व हैं। शायद थिएटर कोई करे ना करें बात अलग हैं, सुजीत सरकार हैं जो 'पीकू' जैसे फिल्म बना रहे हैं आजकल और इतना थिएटर किया हैं उन्होंने पीयूष मिश्रा के साथ, तो मेरा कहने का मकसद सिर्फ यह हैं कि हम यह भ्रांति ना दें। किसी भी विधा को हम खराब ना कहें। चाहे पेंटिंग हो चाहे फिल्म हो चाहे कोई भी हो। हां फिल्म का अपना-अपना स्तर है। बहुत सारी फिल्म ऐसे भी हैं जिन पर हम फख्र कर सकते हैं, पूरे देश के लिए।

मंजुल भारद्वाज: थिएटर मतलब है कि "दी आरटे", जब सिनेमा नहीं था तब थिएटर था। थिएटर में जब दृश्य आता है तो उसमें फिल्म शामिल है। मैं सिनेमा के खिलाफ नहीं हूं, सवाल यह है कि सिनेमा मुझे कह क्या रहा है? मैं बात दृष्टि की कर रहा हूं। मैं किसी भी विधा के खिलाफ नहीं हूं। मैं संस्थानों को बहुत प्यार करता हूं। लेकिन जब संस्थान केवल नाचने गाने के हुनर तक सीमित रहें, कलाकारों को भरमाने के लिए साजिश करें, ओलंपियाड जैसा भद्दा मजाक करें। हमको कला दृष्टि पर भेद नहीं है, तरीकों पर है। और हम एक दूसरे को कॉन्प्लीमेंट कर रहे हैं। हमें ध्यान यह रखना है कि दृष्टि नहीं भरमानी है। सवाल यह है कि हुसैन साहब के पेंटिंग की चर्चा हो कि विवाद की चर्चा हो। हम इसलिए यह बात कह रहे हैं क्योंकि कला विवाद सुलझाती है कला विवाद बढ़ाती नहीं है। और रूबरू होना उसका कोई रिप्लेस नहीं करता।

जैसे आज कहते हैं विकसित हो गए हम, अब आप यह कहेंगे शॉपिंग मॉल विकसित होने का मतलब, यह देखिए कि क्या शीशा पर्यावरण के लिए ठीक है? लेकिन आज भूमंडलीकरण बता रहा है कि यह आपका डेवलपमेंट है। आज टेक्नोलॉजी बेच रही है हमें और हमें भरमाया जा रहा है कि यह विज्ञान का युग है। विज्ञान और तकनीक के फर्क को समझना है और यह कलाकारों की जवाबदारी है कि यह फर्क को वह बताएं लोगों को। खरीदना और बेचना जिस देश की संस्कृति हो वह मनुष्य होने का चिह्न नहीं है। वह पदार्थीकरण है, वस्तुकरण है। यह अर्थहीन होने का दौर है और हम सब को इस संकल्प के साथ यहां से जाना है कि हमें अपने जीवन में अर्थहीन नहीं होना हैं।

संपर्क - 98203-91859

लोकधारा

मंगतराम शास्त्री

औरां कै सिर लाणा सीख, अपणा खोट छुपाणा सीख।
खोट कर्या पछतावै ना, मंद-मंद मुस्काणा सीख।
हाथ काम कै ला ना ला, बस फोए से लाणा सीख।
बाबा बण कै मौज उड़ा, बस थोड़ा बहकाणा सीख।
खूब दवाई बिक ज्यांगी, थोड़ा पेट घुमाणा सीख।
राजनीति के झगड़े नै, जात धरम पै ल्याणा सीख।
हवा भतेरी चाल्लै सै, आग पूळे म्हं लाणा सीख।
दिन म्हं सुथरे भाषण दे, रात नै पाड़ लगाणा सीख।
किसका कौण बिगाड़े के, शरम तार गिरकाणां सीख।
दे कै गाळ पड़ौसी नै, देशभगत कहलाणा सीख।
कत्ल कर दिया के होग्या? करकै कत्ल दिखाणा सीख।
खोजबीन कौण करै इब, पीळी कलम चलाणा सीख।
बड़ा नामवर बण ज्यागा, गीत राज के गाणा सीख।
सब बैंकां का धन तेरा, करजा ले पां ठाणा सीख।
ज्यादा मगज खपावै क्यूं, फरजी ठप्पा लाणा सीख।
गोर्की मुंशी कुछ कोनी, नाम बदल छपवाणा सीख।
आयोजक की कर तारीफ, आच्छी गोज भराणा सीख।
शाल इनाम सभी तेरे, बस ताड़ी बजवाणा सीख।
भेष बदल कै आणा सीख, हंगामा करवाणा सीख।

संपर्क—94165-13872

शब्द और अर्थ के भेद को पाटना होगाः उर्मिलेश

□ अरुण कैहरबा

कुरुक्षेत्र हरियाणा से मैं वाकिफ हूं। चंडीगढ़ में दो साल तक एक अखबार के ब्यूरो में मैंने काम किया है। कुरुक्षेत्र में किसी संगोष्ठी या किसी कार्यक्रम में बोलने का मेरा यह पहला मौका है। इससे पहले हरियाणा में कुछ जगहों पर मैं गया हूं। भाई परमानंद जी ने कहा कि मैं पत्रकार हूं, ठीक है। मैं लेखक हूं, वह भी ठीक है कि मैंने थोड़ा बहुत लिखा है। लेकिन मैं ना तो सामाजिक कार्यकर्ता हूं और ना ही चिंतक। हम तो पत्रकार हैं, ब्रोडकास्टर हैं वह भी छोटे से।

आज भारत के राष्ट्र राज्य की बुनियादी समस्या राजनैतिक समस्या नहीं है। सब लोग चीखते-चिल्लाते हैं कि राजनीति इतनी खराब हो गई है। यह तो बाहरी आवरण है ना बाहर से देख रहे हैं कि राजनीति इतनी खराब हो गई है। लेकिन जिन आधारों पर भारत की राजनैतिक सत्ता व संरचना खड़ी है, उसमें सैद्धांतिक कोई बड़ा खोट नहीं है। हमारे राष्ट्र राज्य की जो वैचारिकता है और संवैधानिक स्थिति है, वह दुनिया के अनेक राज्यों से बेहतर है। हमारे पास दुनिया के बेहतरीन संविधानों में एक संविधान है। दुनिया के प्रौढ़ लोकतंत्रों के पास भी इतना खूबसूरत संविधान नहीं है, जितना हमारे पास है। दुनिया में जितने भी लोकतांत्रिक राज्य हैं, उन मुल्कों में भारत की तरह इतने कानून नहीं हैं। हमारे पास संसद है, कार्यपालिका है, न्यायपालिका है। संरचना में कोई कमी नहीं है।

डेनमार्क को दुनिया की बेहतरीन डेमोक्रेसी कहा जाता है, नार्वे व स्विटजरलैंड को भी डैमोक्रेसी के स्तर पर याद किया जाता है। लेकिन इनमें कई मुल्क हैं, जिनमें राजा और रानी अभी भी हैं। इसके बावजूद डेमोक्रेसी है और खूबसूरत डेमोक्रेसी है। इतनी बेहतरीन डेमोक्रेसी है कि वहां का एक अदना सा पत्रकार जिसके पास एक्रिडिएशन कार्ड हो, वो इस कार्ड से वहां की संसद में जाकर उसका दरवाजा खोल लेता है और अपने विदेशी मेहमान को दिखा सकता है। लेकिन हम इस कार्ड को लेकर थाने जाएं तो थानेदार हमें हड़काकर बाहर कर सकता है।

मैं एकबार 2005 में संसद में बैठा था। पार्लियामेंट में एसईजेड (स्पेशल इकोनोमिक जोन) का एक बिल आया। स्पेशल इकोनोमिक जोन बहुत बड़ा विधेयक था। इसके जितने प्रभाव थे, वे बहुत बड़े थे। इससे पहले इस तरह का बिल कभी नहीं आया था। जानते हैं कुछ मिनटों में यह बिल पास हो गया। उस समय मौजूदा सरकार नहीं थी। पिछली सरकार जो अपने को बेहतर मानती थी। उस दौरान पक्ष और विपक्ष में कोई चर्चा नहीं। कुछ वामपंथी खेमे के सदस्यों ने कुछ सवाल उठाए थे। लेकिन कांग्रेस और भाजपा की मिलीभगत से बिल सर्वसम्मति से पास हो गया।

सबसे बड़ा तो यूआईडी था। अब सबके पास आधार कार्ड होना जरूरी है। यूआईडी का कानून भारत में संसद की मंजूरी के बिना लागू कर दिया गया। भारत की संसद की कोई अनुमति भी नहीं ली गई। दुनिया में कौन सा ऐसा देश होगा, जहां पर संसद व राज्यों की विधानमंडलों की सहमति के बगैर पूरे देश की ऊपर से नीचे की संरचनाओं, मूल्यों और पद्धतियों को प्रभावित करने वाला कानून बना दिया जाए, लेकिन हमने किया और वह यूआईडी है।

दुनिया में लोकतंत्र व गणतंत्र का ऐसा कोई मॉडल नहीं है, जो आज भारत में आजमाया जा रहा है। हम कहते हैं कि भारत में निरंकुशता व फासीवाद आ रहा है। उसकी बुनियाद कहां है। तो इसकी बुनियाद राजनैतिक संरचना में नहीं है। हमारे पास पार्लियामेंट है बहुत ही शानदार। हमारे पास संविधान है बेमिसाल, जिसे बाबा साहब डॉ. अंबेडकर ने बनाया। संविधान को देश की जनता को सुपुर्द करते हुए प्रारूप कमेटी के चेयरमैन डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था-

'26जनवरी, 1950 को हम अन्तर्विरोधों के जीवन में दाखिल होने जा रहे हैं। राजनीति के स्तर पर तो हमारे यहां समानता होगी, लेकिन सामाजिक-आर्थिक जीवन में असमानता होगी। राजनीति में एक व्यक्ति एक वोट का सिद्धांत लागू रहेगा, परंतु सामाजिक जीवन में इसे खारिज किया जाता रहेगा। हमें अपने समाज के इन अन्तर्विरोधों को जल्दी से जल्दी खत्म करना होगा, वरना असमानता के शिकार लोग एक दिन हमारी ऐसी संचरना को ध्वस्त करने में जुटेंगे।'

मैं तकलीफ के साथ कहता हूं कि अंबेडकर का यह सपना अभी तक पूरा नहीं हुआ। जनता ने ऐसी अन्याय पर टिकी सामाजिक संरचना को ध्वस्त करने की कोशिश तेज अब तक नहीं की है। क्योंकि रूलिंग एलीट ने बाबा साहब की चेतावनी का पालन नहीं किया। इसके बावजूद यह ढांचा चल रहा है।

Home

हमारी संरचना की बुनियादी समस्या यह है कि हमारा शासन ना तो पारदर्शी है और ना जवाबदेह है। हमारे देश का शासन आईएएस, पीसीएस, आईएफएस या सांसद नहीं चला रहे हैं, अदृश्य शक्तियां चला रही हैं और प्रशासनिक व राजनीतिक लोग उनके कारकूनों की तरह काम कर रहे हैं। मैं यह नहीं कह रहा कि उनमें अच्छे लोग नहीं है। अच्छे लोग हैं। लेकिन अच्छी व्यवस्था नहीं है। वे व्यवस्था में अच्छे व्यक्ति हैं। लेकिन वे संपूर्ण रूप में सिस्टम के प्रतीक नहीं हैं। अनेक उद्योगपतियों एवं पूंजीपतियों ने एनपीए के नाम पर जो लूट की है। जनता की गाढ़ी कमाई को जिस तरह से सेंध लगाई है। इसकी अगली प्रक्रिया या तार्किक परिणति यह है कि तमाम लोग बैंकों में लूट का एक ही इलाज बता रहे हैं कि बैंकों को डीनेशनलाईज कर दिया जाए यानी प्राईवेटाईज कर दिया जाए। बड़े-बड़े स्तंभकार निजीकरण की पक्षधरता कर रहे हैं। एक विमर्श तैयार किया जा रहा है कि बैंकों में फ्रॉड को रोकने के लिए इन्हें निजी हाथ में दे दो। नेताओं को हवाई जहाज तो अंबानी, अड़ानी व अन्य पूंजीपति ही उपलब्ध करवाते हैं, तो उन्हें तो बैंक भी चाहिएं। इसलिए निजीकरण के पक्ष में माहौल बनाया जा रहा है।

अनेक उद्योगपतियों एवं पूंजीपतियों ने एनपीए के नाम पर जो लूट की है। जनता की गाढ़ी कमाई को जिस तरह से सेंध लगाई है। इसकी अगली प्रक्रिया या तार्किक परिणति यह है कि तमाम लोग बैंकों में लूट का एक ही इलाज बता रहे हैं कि बैंकों को डीनेशनलाईज कर दिया जाए यानी प्राईवेटाईज कर दिया जाए। बड़े-बड़े स्तंभकार निजीकरण की पक्षधरता कर रहे हैं। एक विमर्श तैयार किया जा रहा है कि बैंकों में फ्रॉड को रोकने के लिए इन्हें निजी हाथ में दे दो।

रायगढ़ जिला है महाराष्ट्र में। मुंबई के बगल में। वहां पर रिलायंस कंपनी की एसईजेड थी। रिलायंस मतलब इस देश के राजाओं का राजा। उस कंपनी के एसईजेड के विरोध में वहां की जनता ने प्रोटेस्ट किया और ऐलान कर दिया- नहीं देंगे अपने खेत। महाराष्ट्र की सरकार सरेंडर कर चुकी थी। केन्द्र की सरकार खामोश थी। लेकिन जनता के प्रतिरोध के बाद वहां एक कलेक्टर बैठा था। वहां एक ऐसा कलेक्टर बैठा था कि जो किसी की भी सुनने वाला नहीं था। उसके बाद कोर्ट का दरवाजा भी खटखटाया गया। कलेक्टर ने जनता की राय लेने की बात की और अंत में कलेक्टर ने रायगढ़ में रिफ्रेंडम करवा दिया। जनता ने पूरी तरह से नकार दिया एसईजेड को। लोगों के प्रतिरोध के बाद एसईजेड को स्क्रैप करना पड़ा था।

एक कंपनी का नाम है वेदांता। एक कंपनी का नाम है एस्सार। इन तमाम बड़ी-बड़ी कंपनियों ने उड़ीसा के एक इलाके में जमीन को हड़प लिया। अधिग्रहण करा लिया सरकार की सहमति से। तमाम वकीलों और सिविल लिबर्टी ओरगेनाईजेशन ने सुप्रीम कोर्ट में अपील की। सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया कि 12 गांवों में रिफ्रेंडम करवाया जाए। सभी गांवों ने रिजेक्ट कर दिया। आज तक तमाम बड़ी कंपनियों को जमीन वहां नहीं मिली। हमारे पास भी एचीवमेंट हैं छोटे-छोटे स्तर पर। हम इन्हें राज्य व क्षेत्रीय स्तर पर क्यों नहीं कर सकते।

अगर हम प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्रियों, मंत्रियों की विदेश यात्राओं, गाड़ियों, घोड़ों, भोजों पर देश की गाढ़ी कमाई का इतना रूपया खर्च कर सकते हैं तो रायशुमारी पर हम इतना खर्च क्यों नहीं कर सकते। आधार एक ऐसा विषय था, जिस पर सभी विपक्षी पार्टियों को खड़ा होकर कहना चाहिए था कि बिना रायशुमारी के हम यह नहीं होने देंगे।

दूसरा भागीदारीपूर्ण लोकतंत्र को बढ़ाने के लिए पारदर्शिता की जरूरत है। हमारा लोकतंत्र भागीदारी वाला नहीं है, बल्कि यह तो तानाशाही से भी गया गुजरा है। नाम है संसदीय लोकतंत्र। लेकिन तय करते हैं एक या दो लोग। नोटबंदी का फैसला कैबिनेट ने भी नहीं किया था। क्या संसदीय लोकतंत्र में ऐसा होना चाहिए। भारतीय संविधान के अनुसार कैबिनेट जवाबदेह होती है और प्रधानमंत्री भी कैबिनेट का एक भाग है। प्रधानमंत्री पहला है। जैसे सुप्रीम कोर्ट के जजों में मुख्य न्यायधीश पहला है। लेकिन नोटबंदी कैसे हुई। नोटबंदी का फैसला तो नॉर्थ ब्लॉक को भी नहीं मालूम था, जहां पर वित्त मंत्रालय गृह मंत्रालय है। इसका विकल्प है भागीदारीपूर्ण लोकतंत्र। शासन को गुणात्मक रूप से बदल देने वाला मॉडल और उसके लिए हिस्सेदारी की पहल बढ़ानी पड़ेगी। जो अपने देश में बिल्कुल नहीं है। तो अत: राजनैतिक संरचना हमारे यहां उतनी बड़ी समस्या नहीं है, जितनी बड़ी समस्या है उसका मकैनिज्म और विधि।

हमारे यहां असल समस्या सामाजिक व आर्थिक है। सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के कारण ही हमारी राजनीति में यह विरूपता आई है। भारत के वामपंथियों-समाजवादियों ने समझने का दावा तो किया, लेकिन अमल कहां किया? अमल ही नहीं किया। पुस्तकों का वामपंथियों पर बहुत ध्यान होता है। विमर्शों पर बहुत ध्यान होता है। वे थियोरी और प्रैक्टिस को मिलाने की बात करते हैं। भारत और नेपाल को छोड़ कर कौन सा ऐसा मुल्क है, जहां इस तरह की जातीय व्यवस्था है। जो नफरत, हिकारत, सम्मान दबदबा सारा कुछ जिस पर निर्भर है, उसका नाम वर्ण व्यवस्था है। उसका

नाम जाति व्यवस्था है। नेशनलिज्म क्या है। इसके बारे में वे लोग बात करते हैं जो जानते ही नहीं कि नेशन क्या है और नेशनलिज्म क्या है। जो अज्ञान के आनंद लोक में जीते हैं। इस समय अज्ञान के आनंद लोक का दिल्ली पर कब्जा है।

नेशनलिज्म एक राजनैतिक-सामाजिक धारणा है, एक ऐसे राजनैतिक-आर्थिक तंत्र की सोच है, जो लोगों के हितों के लिए एक स्वतंत्र व सार्वभौम सेल्फ गवर्नेंस की प्रणाली को विकसित करती है। लेकिन अपने यहां जो नेशनलिज्म है - क्या वह प्रो पीपल है। क्या वह प्रो-ह्यूमन है? क्या वह प्रो-पोलिटिकल-सोशल चेंज है? अगर नहीं है तो इसे आप नेशनलिज्म भी नहीं कह सकते। फिर ये जिंगोइस्टिक है, कम्यूनल, जातिवादी, प्रो-कारपोरेट है।

अंबेडकर बार-बार कहते हैं कि जाति राष्ट्र विरोधी है। हमारे बहुत से वामपंथी दार्शनिक विचारक हैं, तमाम तरह के उदारवादी, कंजरवेटिव। जब तक अंबेडकर जीवित रहे, तब तक वे उनकी किताबों व पत्रिकाओं को नहीं पढ़ते थे। देश के वामपंथी और उदारवादी लोगों ने उनकी रचनाओं को नहीं पढ़ा। अंबेडकर की 'मूकनायक' को नहीं पढ़ाया गया कि मूकनायक में क्या लिखते हैं अंबेडकर। सिर्फ अंबेडकर की बिरादरी को वे जानते थे कि वो टोपी लगाने वाला, वो टाई लगाने वाला, वोट सूट लगाने वाला, वह अमुक जाति का है। और इसके आधार पर अंबेडकर का मूल्यांकन करते थे। यह संयोग नहीं कि जब तक अंबेडकर जीवित रहे, उनकी बातों को अखबारों ने पहले पेज पर क्या, आठवें पेज पर भी कभी ठीक से नहीं छापा। अंबेडकर को पूरे जीवन में क्या आप यकीन कर सकते हैं कि जो आदमी दुनिया के बेहतरीन विश्वविद्यालयों से पढ़ा हो। उसे अपने जीवन में पांच-पांच लघु पत्रिकाएं निकालनी पड़ी। आप आज लघु पत्रिकाएं निकाल रहे हैं, आपको विज्ञापन भी मिल रहा है, उसको कुछ नहीं मिलता था। अंबेडकर लीडर, जनता व मूकनायक जैसी पत्रिकाएं निकालते रहे। पर्चे निकालते रहे। भीख मांगते रहे। हमारे देश की जो धारणा है वह यह होनी चाहिए। उनके जीते जी मीडिया ने कभी उन्हें गंभीरता से नहीं लिया। अंबेडकर को जातिवाद का प्रतीक मान लिया गया।

जब मैं बड़ा हो रहा था तो मैं जेएनयू में जाने से पहले इलाहाबाद विश्वविद्यालय में पढ़ता था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बाहर सड़क पर दोनों ओर तमाम किताबों के भंडार लगे होते थे। वहां चेखव थे, गोर्की थे, टॉलस्टाय थे, कालीदास थे, सूरदास थे, कबीर दास थे, महावीर, बुद्ध, उपनिषद, ऋगवेद थे। सब कुछ था किताबों की दुकानों पर लेकिन अंबेडकर नहीं था। 1978 तक हिन्दी क्षेत्र में अंबेडकर की किताबों को नहीं देखा जाता था। वह तो महाराष्ट्र में दलित पैंथर आंदोलन की वजह से, रिपब्लिकन की वजह से, दलित आंदोलन की वजह से उन्हें जाना जाने लगा। महाराष्ट्र में भी अंबेडकर का मतलब केवल दलित। वहां अंबेडकर केवल मराठी में आ सके थे। क्यों?

भगत सिंह के साथ भी वही हुआ। जगमोहन और चमन लाल के लिखने से पहले भगत सिंह को कितने लोग जानते थे? मैं बचपन से ही भगत सिंह पर फिदा था। वह मेरे नायक थे। मेरे हीरो थे। मगर बगैर पढ़े। हम सिर्फ यह जानते थे कि भगत सिंह बहादुर था, एक योद्धा था। उसने बम पटक दिया अंग्रेजों को भगाने के लिए। जिसने अपनी जिंदगी कुर्बान कर दी। लेकिन यह नहीं जानते थे कि भगत सिंह कितना महान प्रतिभाशाली था। कितनी कम उम्र में वह ड्रीमलैंड जैसा लेख लिखता था। मुझे तो यह तब पता चला, जब जगमोहन व चमनलाल की किताबें आईं। जेल डायरी उनकी आई। आखिर कम्यूनिस्टों ने क्या किया था?

भारत में कम्यूनिस्ट आंदोलन 1925 के आस-पास इमर्ज कर चुका था। आरएसएस भी उसी समय बना था। एक ऐसा ओरगेनाइजेशन जो अज्ञान के आनंद लोक को सिंबोलाइज करता है। लेकिन आप तो ज्ञान के पुंज थे महाराज। आप तो द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से लेकर दर्शन दिग्दर्शन तक जानते थे। लेकिन अंबेडकर और भगत सिंह को क्यों नहीं रिकोगनाईज किया। आपने कितना उनकी बातों को सामने लाया। आप हीगल हमें बताते रहे। फायरबाख हमें बताते रहे। हम समझ नहीं पाते थे कि ये कौन लोग हैं। और माफ कीजिएगा। महाराष्ट्र, कर्नाटक, तामिलनाडू में तो संभव था। वहां पेरियार थे, वहां फुले थे, वहां अंबेडकर थे। लेकिन होम ट्रेडिशन जो भारत के वामपंथी आंदोलन से कनैक्ट होनी चाहिए थी। पूरे हिन्दी बेल्ट से गायब थी। यहां तक कि पूरे बंगाल से भी। मैं बंगाल भी जानबूझ कर कह रहा हूं। जहां कम्यूनिस्ट आंदोलन मजबूत था उन दिनों। आज बेचारा बना हुआ है। इस पर कोई शोकगीत लिखिए बंगाल में कम्यूनिस्टों के खात्मे पर। लेकिन सहानुभूति मत प्रकट कीजिए। वे इसी लायक थे। क्योंकि लैंड रिफार्म के बाद उन्होंने कोई ऐसा काम नहीं किया, जिससे वे नई पीढ़ी को जोड़ सकें। और जब मैं यह बात कह रहा हूं तो बड़े दुख के साथ कह रहा हूं। आप यह मत समझिए कि मैं केवल ताली बजा रहा हूं। मैं अंदर से दुखी हूं कि वामपंथी क्यों इतनी गलतियां करते रहे।

अगर हिन्दी बेल्ट में एक कांशी राम नाम का आदमी ना हुआ होता तो अंबेडकर पूरे हिन्दी बेल्ट में मारे जा चुके थे। मैं बसपा का समर्थक नहीं हूँ। मैं बसपा की विचारधारा में यकीन नहीं करता हूं। लेकिन यह सच है महाराज। मैं 1978 में इलाहाबाद से पढ़ा आदमी। अंबेडकर को तभी समझ पाया, तभी पढ़ पाया, तभी किताबें हिन्दी में निकलने लगी, जब कांशी राम भारत के उत्तरी हिस्से की राजनीति में अवतरित हो चुके थे। अंबेडकर को जीवित कर दिया। यह कमाल है कांशी राम का। लेकिन हम कांशीराम को भी गाली देते रहे। हमने

Home

कांशीराम को भी कास्टिस्ट कहा। आज तो उनकी पार्टी भी उन्हें रिजेक्ट कर रही है। मेरा मतलब है कि प्रैक्टिस में तो रिजेक्ट ही कर रही है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि अंबेडकर, पेरियार या फूले की तरह महान दार्शनिक थे। वे एक्जिक्यूटर थे। एक ऐसे व्यक्ति थे जो प्रैक्टिस कर रहा हो। फुले, पेरियार व अंबेडकर दार्शनिक हैं। विचारक हैं। बदलाव की संस्कृति को सींचने वाले बड़े सृजनकर्मी हैं। लेकिन उसके बाद क्या हुआ। उसके बाद यह हुआ कि जो हमने जो बदलाववादी राजनीति है। हमने आरक्षण के सवाल पर। आरक्षण के सवाल पर पूरे वामपंथी आंदोलन ने समझा ही नहीं। मैं स्वयं उन दिनों स्टूडेंट फैडरेशन ऑफ इंडिया को पदाधिकारी था। मुझे बार-बार कहा जाता था कि सामाजिक-आर्थिक कहो। सामाजिक-आर्थिक आरक्षण की बात करो। अरे भारत के संविधान में तो सामाजिक-आर्थिक कहीं है ही नहीं। भारत के संविधान में सामाजिक-शैक्षिक पिछड़ापन पर आरक्षण है। आरक्षण क्रांति के लिए नहीं है। आरक्षण अर्थतंत्र में बदलाव के लिए नहीं है। आरक्षण समाज में बदलाव के लिए है। और अंबेडकर को यदि आप पढ़ेंगे तो समझेंगे कि आरक्षण क्यों जरूरी था।

भारत के वामपंथी आंदोलन को अंबेडकर और भगत सिंह की विचारधारा का एक मिलाजुला मॉडल खड़ा करना चाहिए। इसके बगैर भारत में बदलाव की संस्कृति व राजनीति का कोई और दूसरा मॉडल नहीं है। ...जो लोग आज बदलाव की बात कर रहे हैं, उन्हें इन दो लोगों के दार्शनिक चिंतन पर जरूर विचार करना चाहिए।

बहुत से ओबीसी के लोग कहते हैं कि आरक्षण तो अंबेडकर ने दलितों के लिए किया, हमारे लिए क्या किया। इसलिए कि नादानी है। अंबेडकर ना होते तो धारा-340 ना होती। संविधान की धारा 340 अंबेडकर और उनकी तरह के लोगों के प्रयासों का परिणाम है। उसी धारा 340 से ओबीसी का आरक्षण सामने आया। यह तो आप सभी जानते हैं, लेकिन इसे कौन बताए। यदि आप रोज अज्ञान, मूर्खता और पैसे का सर्बत पी रहे हों और आप को सिर्फ पैसे कमाने से ही मतलब हो तो आप कैसे चिंगारी लगाएंगे।

आज चिंगारी की जरूरत है, जो भारत को बदल सके। जो शिथिल पड़े सिस्टम में एक नई ऊर्जा ला सके। इसलिए मेरा मानना है। मैं बार-बार कहता हूं कि भारत के वामपंथी आंदोलन के पास। आंदोलन ना कहिए, वामपंथी दलों के पास बेहतरीन लोग हैं। संसद में आज भी आप देखिए वामपंथी सबसे समझदार हैं। कुछ एक अपवादों को छोड़कर। लेकिन वो कौन है, उनका कनैक्ट कितना है? असल समस्या यही है। मैं निंदा नहीं कर रहा। आलोचना कर रहा हूं। मुझे लगता है कि भारत के वामपंथी आंदोलन को अंबेडकर और भगत सिंह की विचारधारा का एक मिलाजुला मॉडल खड़ा करना चाहिए। इसके बगैर भारत में बदलाव की संस्कृति व राजनीति का कोई और दूसरा मॉडल नहीं है। जब मैं यह कह रहा हूं तो मेरा मतलब यह नहीं है कि आप भगत सिंह और अंबेडकर पर फूल चढ़ाईये, उनकी मूर्ति बनाईये। बिल्कुल नहीं। मैं अंबेडकर के अध्येता के तौर पर मानता हूं कि अंबेडकर ने गलतियां भी की हैं। भगत सिंह को तो गलतियां करने का मौका ही नहीं मिला। उनकी उम्र ही इतनी कम लेकिन यदि अंबेडकर ने कुछ गलतियां भी की हैं तो हम उनकी गलतियों को भी एक महान चिंतक, महान क्रांतिदर्शी की गलतियां कहते हैं। वे गलतियां क्या हैं, उन पर चर्चा फिर कभी। जो लोग आज बदलाव की बात कर रहे हैं, उन्हें इन दो लोगों के दार्शनिक चिंतन पर जरूर विचार करना चाहिए।

अब मैं अर्थतंत्र पर आ रहा हूं। सामाजिक स्थिति पर मैंने बोल दिया। जो अर्थतंत्र हमारा है। अंबेडकर ने उस वक्त कहा था-1950 में। एक व्यक्ति-एक वोट है। लेकिन अर्थतंत्र में क्या हिस्सेदारी है। आज भागीदारी यह है- एक वर्ष में अर्जित संपदा में भारत के एक प्रतिशत का 73 फीसदी हिस्सा है। बांगलादेश में इतना नहीं है। श्रीलंका में इतना नहीं है। पाकिस्तान में हो सकता है। क्योंकि पाकिस्तान की नेशनल एसेंबली में सारे भूस्वामी, जमींदार, सारे एलीट दिखाई पड़ते हैं। वहां बैठी हुई महिलाएं, वहां बैठे हुए सारे पुरूष, सारे ऐसा लगता है कि एक बहुत ही खुशहाल मुल्क के लोग हों। जबकि पाकिस्तान एक बहुत ही फटेहाल मुल्क है। इतनी बुरी स्थिति है जनता की, सिर्फ पंजाब के कुछ इलाके की अच्छी स्थिति है। हमारे देश की एसेंबली को भी कुछ-कुछ ऐसा ही बनाने की कोशिश हो रही है। कि यहां सिर्फ बड़े ही लोग आएं। राज्यसभा में एक समय में बड़े-बड़े विचारक आते थे, अब सिर्फ कारपोरेट आते हैं तो एक फिसदी लोगों का 73 फीसदी पर हिस्सा है। 1991 में दस प्रतिशत के पास 52फीसदी और 1952 में दस प्रतिशत के पास 92फीसदी संपदा थी। 2012 में हो गई 73 फीसदी। आर्थिक सुधार। क्या खूबसूरत नाम है-आर्थिक सुधार। तो आर्थिक सुधार हैं या आर्थिक विध्वंस हैं या सुधार। यह इंडियन एक्सप्रैस या टाइम ऑफ इंडिया के एडिटोरियल से समझ नहीं आएगा, जो खुलेआम आर्थिक सुधारों की वकालत करते हैं। यही कारण है कि वे डिनेशनलाईजेशन व प्राईवेटाईजेशन के पक्ष में खड़े हैं। कभी-कभी अच्छी खबर दे देते हैं तो हम खुश हो जाते हैं।

'नई कैपिटल' लिखने वाले दुनिया के महानतम अर्थशास्त्री थॉमस पिकेटी ने कहा कि 1922 में पहली बार इंकम टैक्स कानून अंग्रेजी सरकार ने भारत में लागू किया। उस समय से इस समय बहुत अधिक आर्थिक असमानता है आजाद भारत में। कितनी

असमानता है भारत में? इस मामले में हम 180 मुल्कों में 135वें नंबर पर हैं। उन्होंने कहा कि असमानता का जब इंडेक्स जारी हुआ था तो भजन मंडलियां लेकर बैठे टेलीविजन चैनलों ने इस पर बहस करवाने की जरूरत भी नहीं समझी। 180 मुल्कों में हम 135वें नंबर पर हैं। 1922 से भी गई गुजरी स्थिति है। तो हम क्यों आजाद हुए थे। हमारी आजादी में हमारी जिजीविषा, हमारी इच्छा, हमारा मकसद क्या था? यह सोचने की बात है।

अंत में मैं यह कहूंगा कि नेहरू युग की जब देश में बात होती है तो उनका देश में बहुत बड़ा योगदान है। कम से कम उन्होंने लोकतंत्र के ढ़ांचे को जारी रखा। लेकिन नेहरू युग की वजह से हमको यह महान दिन देखना पड़ रहा है।

अपने यहां जो समस्याएं पैदा हुई और उन्हें संबोधित नहीं किया गया, उस युग में थी - दो। पहली शिक्षा और दूसरी स्वास्थ्य। अगर उसी समय भारत की आजादी के बाद सबको समान शिक्षा का एक बिल आ गया होता, तो आज जो बौद्धिक, सांस्कृतिक स्तर, मूल्यों के स्तर पर जो असमानता की समस्या पैदा हुई है, वे ना हुई होती। आज सामान्य स्तर के व्यक्ति भी वे बातें करते हुए देखे जा सकते हैं, जो अंबानी अपने कमरे में कहता होगा। वे वह बातें सोचते हैं, जो अदानी साहब करते हैं। उनको नहीं मालूम कि वे क्या कह रहे हैं। उन्हें नहीं पता कि वे अपनी ही संततियों के सामने गंभीर संकट खड़ा कर रहे हैं। तो यह कारण है समान शिक्षा का, जो नहीं हुई। मैं दुनिया के सारे मुल्क नहीं गया हूं, लेकिन सारे महाद्वीप गया हूं। लेकिन मुझे जिन-जिन बेहतर देशों में जाने का मौका मिला और बेहतर लोकतंत्र को देखने का मौका मिला, वहां मैंने पाया कि शिक्षा।

बरमिंघम में मैं छह संपादकों के डेलीगेशन का हिस्सा था। हम लोग ब्रिटिश सरकार के मेहमान थे। वहां एक स्कूल में अध्यापक ने बताया कि यह भारतीय मूल का है। पता चला कि वह एक ड्राईवर का बेटा है। उसी स्कूल में अध्यापक ने बताया कि दूसरा बच्चा केबिनेट मंत्री का बच्चा है। मंत्री और उसके ड्राईवर दोनों के बच्चे एक स्कूल में थे। यह है डेमोक्रेसी। क्या हम ऐसा सोच सकते हैं। हम जिनके इतने साल गुलाम रहे, हमने उनकी अच्छी चीजें नहीं सीखी। बहुत सारे कथित विचारक अंग्रेजों को महान बताकर उनकी आलोचना नहीं करने की बात कहते हैं। अंग्रेज महान थे, अपने लिए, हमारे लिए नहीं। हमारे लिए उन्होंने हिन्दू-मुसलमान के झगड़े करवाए।

मुगलकाल में हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा नहीं था। खिलजी काल में भी नहीं था। अधिकतर उन्हीं मंदिरों पर हमले हुए, जहां पर धन था। मैं अपवाद की बात नहीं करता। साम्प्रदायिक विभाजन सिर्फ और सिर्फ अंग्रेजों की देन है। तो मेरा यह कहना है कि सभ्यागत मूल्यों को बदलने का शिक्षा एक जरूरी औजार है। उस क्षेत्र में काम नहीं होना, इस देश के संकट का एक बड़ा कारण है। दूसरा कारण हैल्थ केयर है। हम डर के मारे अस्पताल नहीं जाते हैं कि कहीं कोई बड़ा रोग ना निकल जाए। अभी सरकार ऐसी हैल्थ पोलिसी लेकर आई है वह इतनी फालतू इंस्योरेंस पोलिसी है कि आप कल्पना ही नहीं कर सकते। वह पोलिसी कितनी दिखावटी, कितनी नकली और कितनी निरर्थक है और वह कारपोरेट और इंस्योरेंस कंपनियों को मदद करने के लिए है। तो हैल्थ केयर और शिक्षा में यदि बेहतर प्रयोग हुए होते तो हमारे देश में इतनी खराब हालत ना हुई होती, जो आज है।

अंत में यही कहूंगा कि अगर आप कुछ देश के लिए सोचते हैं तो प्लीज आप उसे सिर्फ कागज पर शब्दों में मत रखिये। आप उसको अमल कीजिए। हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या है - शब्द और कर्म का भेद। कर्म और शब्द का भेद इस देश की बुनियादी समस्या है।

मीडिया में जो कुछ आप देख रहे हैं। वे अलग से नहीं है। मीडिया में जितने संपादक आज मृदंग मंडली के नेता हैं, उनमें से एक को छोड़कर पहले कांग्रेस की डफली बजा रहे थे। इनके सारे परिवारों के लोग बिहार और पूर्वी यूपी में हैं। ज्यादातर बिहार और पूर्वी यूपी के ज्यादातर टेलीविजन चैनलों के संपादक व प्रोड्यूसर हैं। अच्छी बात है कि आप आईएएस बनना चाहते थे, लेकिन नहीं बन पाए तो संपादक बन गए। इनके सारे लोगों के परिवार कांग्रेस से बीजेपी की तरफ स्थानांतरित हो गए

ऐसा नहीं है कि भारत की सवर्ण जातियों के जो लोग हैं, वे सभी सवर्णवादी हैं। इस देश में स्वर्ण जातियों में पैदा हुए लोगों ने दलितों के लिए अपनी जिंदगी कुरबान कर दी। केरल में दलितों के लिए एक बड़ी लड़ाई ई.एस. नंबूदरीपाद ने लड़ी। जब दलित लड़कियों को शादी के बाद ऊपर कपड़ा पहनने की अनुमति नहीं थी। नंबूदरीपाद से पहले भी लोगों ने लड़ाई लड़ी। नंबूदरीपाद ने तो अग्रहारम के निरंकुश आचरण को रोका। केरल के कोचीन व दूसरे इलाके में अग्रहारम उन्हें कहते थे, जो शुद्ध ब्राह्मण नंबूदरीपाद के घर थे। दलित लड़कियों की शादी के बाद उन परिवारों का लड़का उनके साथ पहली रात बिताता था। नंबूदरीपाद ने उनके खिलाफ लड़ाई लड़ी। केरल में वामपंथी आंदोलन यदि टिका हुआ है तो उसकी वजह है कि उसका सामाजिक आधार मौजूद है। वीएस अच्यूतानंदन जैसा व्यक्ति वहां पैदा हुआ, जो अभी जीवित है। यह बात जरूर कहूंगा कि आप लोग शब्द और अर्थ के भेद को पाटिए।

संपर्क - 9466220145

स्त्री सृजनः अनुभव व उपलब्धियां

□ अनुराधा

हरियाणा सृजन उत्सव के दौरान 25 फरवरी 2018 को 'स्त्री सृजन संकल्पः उपलब्धियाँ और अनुभव' विषय पर परिचर्चा हुई। युवा कवियत्री विपिन चौधरी, नाटक कलाकार व शिक्षाविद कमला, शोधार्थी अनुराधा, गीता कुंडू और गीता पाल परिचर्चा में शामिल रही। संयोजन किया मोनिका भारद्वाज ने। प्रस्तुत है संक्षिप्त रिपोर्टः सं.-

मोनिका भारद्वाजः सार्वजनिक जीवन के तमाम हल्कों में स्त्री जमात की उपस्थिति हो रही है। तमाम नकारात्मक परिस्थितियों के अलावा हरियाणा की तस्वीर बदल रही हैं हरियाणा में महिलाएं आशा वर्कर के रूप आन्दोलन करती हुई नज़र आती हैं, वह चुनाव लड़ती हैं, सेना में और खेलों में भी हैं और सड़कों पर स्कूटर भी चलाती हुई भी दिखाई देती हैं भले ही छोटे स्तर पर हैं मगर यह तस्वीर महिला सृजन की सम्भावनाएं खोल रही हैं। यह उनके लिए अपने आप में एक उपलब्धि हैं जो उन्हें आगे बढ़ते रहने के लिए प्रेरित करती हैं। तमाम योगदानों के अलावा महिलाओं को सृजन और हस्तक्षेपकारी भूमिका में भी बड़े पैमाने पर शिरकत करनी होगी।

नारीवाद की सार्थकता को सिर्फ देह-मुक्ति से ना जोड़ा जाए अगर महिला अपनी कोख पर अधिकार मिल जाए जिसमे स्त्री अपने हिसाब से अपना बच्चा पैदा कर सके तो नारीवाद की सार्थकता सिद्ध हो जाएगी। महिलाओं ने नारी की समस्याओं पर विभिन्न दृष्टियों से चिंतन किया है और नारीवाद के अनेक आयाम स्थापित हुए हैं। इसमें अभिजात्य वर्ग की महिलाओं से लेकर मजदूर महिलाओं तक की अपेक्षाओं व संघर्षों को अपने चिंतन में शामिल किया है। नारीवाद का अर्थ अनिवार्यतः पुरुष का विरोध नहीं बल्कि महिला-पुरुष बराबरी की संकपल्पना पर टिका है।

विपिन चौधरीः लेखन की अलग-अलग विधाओं से होते हुए प्रकाशकों, सम्पादकों और विचारकों के सहयोग से इस क्षेत्र में आत्मविश्वास अर्जित किया। हरियाणा से और जाट जाति ताल्लुक होने से बहुत चुनौतियां आई क्योंकि दोनों ही स्तर पर प्रचलित रूप से "स्त्री छवि" को लेकर खास तरह की अपेक्षाएं हैं। सामाजिक ढाँचे के चलते एक सृजनकर्ता की आत्मछवि बनाए रखने का अपना संघर्ष है क्योंकि महिला सृजनकारों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलता।

देहमुक्ति के बारे में बात करना ही नारीवाद की सार्थकता है ऐसी संकल्पना अपने आप में विवादित है जिस तरह हरियाणा में नारीवाद पर बात करने का मतलब पुरुषों को गाली देना समझा जाता हैं ठीक उसी तरह देह से मुक्ति को लेकर भी गलत अवधारणा है क्योंकि जिस तरह से पुरुषों का शरीर है उसी तरह से औरतों का शरीर है जो की जैविक जरूरतों को पूरा करने का टूल है। देह मुक्ति के बारे में बात करने का मतलब पाश्चात्य पोशाक पहनने की आज़ादी नहीं है बल्कि महिला शरीर का सम्मान और आत्म-जागरूकता है। नारीवाद की शुरूआती संकल्पनाओं में काफी बदलाव आया है। अगर इन 10 सालों में ही देखा जाए तो पहले के हालातों में एक हद तक बदलाव आया हैं। आज लडकियाँ आसानी से जींस पहन लेती हैं जबकि 10 साल पहले तक सिर्फ खिलाड़ी लडकियाँ ही जींस पहन सकती थी। इसलिए नारीवाद को सिर्फ शरीर, कपड़े या स्त्री-पुरूषों के अंतर से मुक्त होकर खुले तौर पर सोचने की ज़रूरत है जिस में औरतें अपनी अभिव्यक्ति दर्ज करा सके और इस प्रकिया में बाधक और सहायक कारकों को समझना ही असल में स्त्री मुक्ति की सही दिशा है। नारीवाद के बारे में समझ बनाने के लिए इस विषय में ज़्यादा से ज़्यादा पढने-लिखने, विमर्श करके और अधिक इजाद करने की ज़रूरत है। सम्भवत: लेखन और सृजन के सभी माध्यम एक औजार हैं जो समाज को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने की नज़र पैदा करते हैं।

कमलाः जिस तरह की पारिवारिक पृष्ठभूमि से आती हूं वहाँ लड़कियों को विकास के अवसर मिलना तो बहुत दूर की बात हैं यहाँ तक पढ़ाई के अवसर भी नहीं मिलते हैं। लड़कियाँ या तो घर के काम करती हैं, मजदूरी करती हैं या फिर आठवीं के बाद ही उनकी शादी हो जाती है।

एक नाटक कार्यकर्ता के रूप में यह हौंसला अर्जित किया जिससे अपनी बात कहने का आत्मविश्वास पा सकी। नाटक से एक पहचान मिली मगर हरियाणा में जहाँ एक पुरुष नाटककर्मी को भी कड़ा संघर्ष करना पड़ता है, वहीं अगर नाटककर्मी कोई लड़की है तो उसका संघर्ष ज्यादा हो जाता है जैसे लडकी घर से बाहर नहीं जाएगी, लड़कों के साथ नाटक करेगी तो शादी नहीं होगी। उस दौरान वह 15- 16 साल की लडकी के लिए इन सवालों का जवाब देना और खुद की जगह बनाना बहुत कठिन था। समाज के द्वारा

सीधे-सीधे चरित्र को लेकर छींटाकशी की जाती हैं। लडकियों का सामाजिक भूमिका में आने तक का संघर्ष और फिर उसकी स्वीकार्यता का संघर्ष चलता रहता है। यह संघर्ष परिवार, शिक्षण-संस्थान और कार्यस्थल पर अलग-अलग स्तर पर देखने को मिल जाता हैं

अपने सहपाठियों के साथ नाटक का निर्देशन करते हुए अपने पुरुष सहपाठी की अवहेलना झेलनी पड़ी। "कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय" में प्रोजेक्ट कोर्डिनेटर की भूमिका में भी इस तरह की कई चुनौतियों को झेलना पड़ा। पुरुषवादी मानसिकता के चलते इस पद पर कोई महिला लम्बे समय से नहीं टिक पाई मगर उन्होंने 7 महीने वहाँ टिक कर काम किया और नई पहल भी की। इस तरह के कई अनुभवों का सामना करते हुए भी बहुत से लोग ऐसे भी मिले जिन्होंने साथ भी दिया। इस तरह के सहयोग के चलते आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा मिली।

संघर्ष और हौसले के चलते एक सामाजिक नेतृत्त्व मिला और एक मिसाल पेश की। इससे प्रेरित होकर समाज की लड़कियों ने न सिर्फ़ पढ़ने का बल्कि उच्च शिक्षा तक जाने का हौंसला किया। कर्नाटक और बिहार राज्यों में काम करते हुए यह महसूस हुआ कि दूसरे राज्यों की तुलना में हरियाणा में महिलाओं की भागीदारी ज्यादा प्रखर रूप से दिखाई देती है।

अनुराधा: हरियाणा की सामाजिक-सांस्कृतिक धरातल पर वैकल्पिक सम्भावनाएँ मौजूद हैं और इन सम्भावनाओं को लाने और इनकी स्वीकार्यता बनाने की ज़रूरत है। इसके लिए हरियाणा की तथाकथित छवि जिसमें या तो बहुत ही नकारात्मक रूप से पेश किया जाता है या बहुत ही महिमामंडन किया जाता है इस छवि को छोड़ कर नई सम्भवनाओं की तलाश करने की ज़रूरत है। निश्चित ही इस सम्भावनाओं के चलते स्त्रियों और दलितों की अभिव्यक्ति और सृजनकारी भूमिका भी समान रूप से सामने आएगी।

हरियाणा के लोकसाहित्य में शुरू से ही महिलाएं केन्द्र में रही हैं। महिलाओं को लेकर उनकी तथाकथित छवि के अलावा उनके पक्ष में लिखी हुई रागनियाँ भी मिली हैं इन रागनियों में सामाजिक व्यवस्था को लेकर अपने-अपने समय की बेचैनियाँ नज़र आती हैं। लख्मीचंद के सांगों की महिला पात्रों के ज़रिये बेमेल-विवाह, यौन-शोषण, कन्या-भ्रूणहत्या और प्रेम-विवाह जैसे मुद्दे सामने आये हैं जिन पर खुल कर बात नहीं होती है। इन रागनियों में महिलाओं के प्रति मानवीय संवेदना, उनकी व्यथा और आदर्श पुरुषों की आलोचना भी सामने आई है। इसके अलावा जनवादी आंदोलनों, जनवादी रागनी और नाटकों ने नये और पुराने के तालमेल से महिलाओं की अभिव्यक्ति के विकल्प रचे हैं। इन विकल्पों के ज़रिये महिला न केवल संवाद करने की जगह पर आई है बल्कि उन्होंने सामाजिक नेतृत्व भी लिया है। ये महिलाएं खुद अपने फैसले लेती हैं इन फैसलों की कामयाबी और नाकामयाबी की जिम्मेदारी भी लेती हैं। महिलाओं की अभिव्यक्ति तमाम विकल्पों और सम्भावनाओं से निकली हुई उपलब्धि है।

लोक साहित्य में औरतें अलग-अलग भूमिका में तो दिखाई देती हैं चाहे वो पात्र, नर्तकी या गायिका के तौर पर हो मगर जनवादी आंदोलनों के अलावा महिला लेखिकाओं की भूमिका में बहुत कम दिखाई देती हैं। महिला सृजन अलग-अलग तरह से मजबूत करने की जरूरत हैं चाहे वह साझे प्रयासों से हो या फिर व्यक्तिगत पहलकदमी से हो। सम्भवत: यह जागरूकता क्षणिक नहीं इसको बनाए रखने के संघर्ष लगातार करने होंगे और कई स्तर पर करने होंगे तभी महिला सृजनकारों की तादाद भी बढ़ेगी और महिला विमर्श की परतें खुलेगीं।

गीता कुंडू: लडकियों को घर में कंघी करना और बालों में पिन लगाने से लेकर जींस पहनने तक पर पाबंदी है और इसे माओं और खुद अध्यापिकाओं के द्वारा भी गलत माना जाता है। उनकी इस अवधारणा पर पितृसत्तात्मक सोच का असर दिखाई देता हैं। उनका सोचना है कि अगर लडकियाँ फैशन करेंगी तो चाल-चलन बिगड़ जाएगा। लड़कियों को इसी शर्त पर स्कूल भेजा जाता है कि वह ऐसा कोई काम नहीं करेंगी जो इनकी छवि को ख़राब करें। इस तरह परिवार में तमाम समझोतों के बाद चाहे लडकियाँ अपनी शिक्षा के अधिकार को अर्जित करती हैं और इस अवसर के लिए भी अपने परिवार के लिए शुक्रगुज़ार होती हैं। इस तरह के संकीर्ण विचारों के विरुद्ध बतौर एक शिक्षक लड़ाई करने की बहुत चुनौतियाँ हैं लेकिन इस तरह के संघर्षो के साथ-साथ दलित समाज से आने वाली लड़कियों में यह विश्वास भी जागा है कि वो भी कुछ कर सकती हैं यह बात उन्हें बहुत ताकत भी देती है।

सिर्फ किताबी शिक्षा ही नहीं बल्कि ऐसे कविता,नाटक और गीत जो की उनके पक्ष में लिखे गये हैं उनमे आत्मविश्वास जगाते हैं। एक चुप-चाप रहने वाली लडकी नाटक के माध्यम से सामने आती है और फिर उसने अपने साथ और 10 लड़कियों को जोड़ती है। इस तरह की लड़कियों को देखकर अपने काम की ताकत दिखती है।

गीता पाल: छोटी-छोटी चीज़ों में और व्यवहार में पितृसत्तात्मक सोच का असर दिखाई देता है। यह उनकी अभिव्यक्ति के सामने बड़ी बाधा है। अगर लड़कियों को मौका दिया जाता हैं लड़कियों ने खुद को साबित किया है। मेरे स्कूल में लड़कियाँ पढाई में, खेल में अव्वल आती हैं। स्कूल के अलावा राष्ट्रीय स्तर पर संतोष यादव, साक्षी मलिक और कल्पना चावला जैसी महिलाओं ने भी साबित किया है हालांकि इस तरह की सफलता तक पहुंचने के उनके भी संघर्ष रहे हैं। साक्षरता के दौरान अपनी अधेड़ उम्र की साथी को साक्षरता जैसे सामाजिक काम करने में भी अपने पति का

इतना दबाव रहता था कि कई बार वह रात में देर से घर पहुंचने पर रसोई में भी नहीं जाती थी ताकि शोर न हो और उनके पति जाग न जाए। इस तरह भूखे रहकर वह झगड़े से बचाती थी और साक्षरता में काम करते रहने के तरीके निकालती थी। लेकिन धीरे-धीरे नाटक करते हुए उस महिला ने घूंघट खोल कर मंच पर प्रस्तुति की और नए गीत रचने लगी। इस तरह एक महिला सृजन की शुरुआत हुई।

आज भी 70 प्रतिशत लडकियाँ खून की कमी का शिकार हैं क्योंकि परिवार में खाने-पीने में भेद-भाव किया जाता है। महिलाओं की सामाजिक स्थिति के अलावा कुपोषण के चलते स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी सही स्थिति नहीं हैं।

इस तरह के अनदेखियाँ इस तरह स्वाभाविक लगती हैं कि इन पर बात ही नहीं की जाती क्योंकि यह सोच नैतिक-मूल्यों और परम्पराओं के रूप में भी परोसा जाता है। इसलिए नैतिक-मूल्यों और परम्पराओं को बदलने ज़रूरत है और इसकी शुरुआत परिवारों से ही करनी होगी। शिक्षा, खेल, नाटक और साहित्य जैसे मंचों पर लड़कियों की अभिव्यक्ति के अवसर खोलने होंगे।

संपर्कः 8285235674

कविता

दामिनी यादव

माहवारी

आज मेरी माहवारी का
दूसरा दिन है।
पैरों में चलने की ताक़त नहीं है,
जांघों में जैसे पत्थर की सिल भरी है।
पेट की अंतड़ियां
दर्द से खिंची हुई हैं।
इस दर्द से उठती रुलाई
जबड़ों की सख़्ती में भिंची हुई है।
कल जब मैं उस दुकान में
'व्हीस्पर' पैड का नाम ले फुसफुसाई थी,
सारे लोगों की जमी हुई नज़रों के बीच,
दुकानदार ने काली थैली में लपेट
मुझे 'वो' चीज़ लगभग छिपाते हुए पकड़ाई थी।

आज तो पूरा बदन ही
दर्द से ऐंठा जाता है।
ऑफिस में कुर्सी पर देर तलक भी
बैठा नहीं जाता है।
क्या करूं कि हर महीने के
इस पांच दिवसीय झंझट में,
छुट्टी ले के भी तो
लेटा नहीं जाता है।
मेरा सहयोगी कनखियों से मुझे देख,
बार-बार मुस्कुराता है,
बात करता है दूसरों से,
पर घुमा-फिरा के मुझे ही
निशाना बनाता है।
मैं अपने काम में दक्ष हूं,
पर कल से दर्द की वजह से पस्त हूं।

अचानक मेरा बॉस मुझे केबिन में बुलवाता है,
कल के अधूरे काम पर डांट पिलाता है।
काम में चुस्ती बरतने का
देते हुए सुझाव,
मेरे पच्चीस दिनों का लगातार
ओवरटाइम भूल जाता है।
अचानक उसकी निगाह,
मेरे चेहरे के पीलेपन, थकान
और शरीर की सुस्ती-कमज़ोरी पर जाती है
और मेरी स्थिति शायद उसे
व्हीस्पर के देखे किसी ऐड की याद दिलाती है।
अपने स्वर की सख़्ती को अस्सी प्रतिशत दबाकर,
कहता है, ''काम को कर लेना,
दो-चार दिन में दिल लगाकर।''
केबिन के बाहर जाते
मेरे मन में तेज़ी से असहजता की
एक लहर उमड़ आई थी।
नहीं, यह चिंता नहीं थी
पीछे कुर्ते पर कोई 'धब्बा'
उभर आने की।

यहां राहत थी
अस्सी रुपये में ख़रीदे आठ पैड से
'हैव ए हैप्पी पीरियड' जुटाने की।
मैं असहज थी, क्योंकि
मेरी पीठ पर अब तक, उसकी निगाहें गड़ी थीं
और कानों में हल्की-सी
खिलखिलाहट पड़ी थी
''इन औरतों का बराबरी का
झंडा नहीं झुकता है
जबकि हर महीने
अपना शरीर ही नहीं संभलता है।
शुक्र है हम मर्द इनके
ये 'नाज़-नख़रे' सह लेते हैं
और हंसकर इन औरतों को
बराबरी करने के मौके देते हैं।''

ओ पुरुषो!
मैं क्या करूं
तुम्हारी इस सोच पर,
कैसे हैरानी ना जताऊं?
और ना ही समझ पाती हूं
कि कैसे तुम्हें समझाऊं!
मैं आज जो रक्त-मांस
सेनेटरी नैपकिन या नालियों में बहाती हूं,
उसी मांस-लोथड़े से कभी वक्त आने पर,
तुम्हारे वजूद के लिए,
'कच्चा माल' जुटाती हूं।
और इसी माहवारी के दर्द से
मैं वो अभ्यास पाती हूं,
जब नौ महीने बाद
अपनी जान पर खेल
तुम्हें दुनिया में लाती हूं,
इसलिए अरे ओ मर्दो,
ना हंसो मुझ पर कि जब मैं
इस दर्द से छटपटाती हूं,
क्योंकि इसी माहवारी की बदौलत मैं तुम्हें
'भ्रूण' से इंसान बनाती हूं।

संपर्क - 83683-00590

हरियाणा की संस्कृति के विविध रंग

□ अरुण कैहरबा

हरियाणा सृजन उत्सव में 24 फरवरी 2018 को 'हरियाणा की संस्कृति के विविध रंग' विषय पर परिचर्चा हुई जिसमें मेवात इतिहास एवं संस्कृति विशेषज्ञ सिद्दीक अहमद मेव तथा साहित्यकार एवं समाजशास्त्री प्रदीप कासनी ने अपने विचार प्रस्तुत किए। इस परिचर्चा का संचालन एवं संयोजन 'देस हरियाणा' पत्रिका के संपादन से जुड़े शिक्षाविद् अरुण कैहरबा ने किया। प्रस्तुत है। परिचर्चा के मुख्य अंश - सं.

अरुण कैहरबा - संस्कृति के सवाल को प्राय: ही बहुत ऊपरी तौर पर देखा जाता है। कई बार संस्कृति को केवल स्टेज आईटम के तौर पर पेश किया जाता है। निश्चित तौर पर स्टेज पर जो प्रस्तुतियां होती हैं, वे हमारी संस्कृति का हिस्सा हैं, लेकिन संस्कृति को सिर्फ इसी तरह देखना तंग नजरिये का सूचक है। संस्कृति के साथ जो दूसरी बातें जुड़ी हुई हैं। आमतौर पर संस्कृति की विविधताएं और सतत रूप से होने वाले बदलावों को नजरंदाज करके सभ्यता की पुरानी चीजों को ही संस्कृति बता दिया जाता है।

पगड़ी, हुक्का, दामन, घाघरा को ही हरियाणा की संस्कृति बताकर महिमागान किया जाता है। हरियाणा में संस्कृति के दस्तावेजीकरण की तरफ ध्यान नहीं दिया गया। और जो हुआ भी वह अतीत मोह से ग्रस्त है।

'देस हरियाणा' द्वारा आयोजित किया जा रहा हरियाणा सृजन उत्सव संस्कृति के विविध रंगों का जश्न मनाने का अवसर है। हमारा मानना है कि विविधता बाधक नहीं, ताकत है। हरियाणा की संरचना का स्वरूप विविधताएं लिए हुए है। हरियाणा में मेवात, बांगर, खादर, बागड़, अहीरवाल क्षेत्र हैं।

प्रदीप कासनी- हरियाणवी से मतलब है हरियाणा क्षेत्र। हरियाणा की प्रादेशिक अस्मिता का सवाल भी यहां मान कर चला जा रहा है। लेकिन हरियाणा उस तरह से आवयविक/ओरगेनिक तौर पर नीचे से विकसित हुआ प्रांत नहीं है। उसकी कोई पुख्ता पहचान नहीं है। जन्मजात पहचान नहीं है कि जैसे कल ही इसकी फोरमेशन हुई हो। बेसिकली पंजाबी सूबे की मांग को पूरा करते हुए बचे हुए हिस्से को हरियाणा नाम देकर एक अलग सूबे के रूप में मान्यता दे देना और भारतीय गणराज्य के एक राज्य के रूप में स्वीकृति देने से इसकी कोई सांस्कृतिक पहचान नहीं बनती है। यह 1966 की बात है। यह एक रेजिड्यूल किस्म का विकास है, उस तरह का नहीं है जैसे मराठवाड़ा या महाराष्ट है। जिस तरह बंगाल है। उस तरह का भी नहीं है जैसे तमिलनाडू या मलयाली प्रदेश है। आकार में भी छोटा है। यह बात प्राथमिक तौर पर इस सूबे की स्थापना को लेकर है।

विविधता की बात की जाए तो इस छोटे से सूबे में भी बहुत सारी विविधता है। इसके हर कोने की भाषा-संस्कृति से हमारा साबका पड़ता है। अगर कोई सिरसा-डबवाली से है और अपनी बोली में बात करता है, तो रोहतक सोनीपत के आदमी के लिए उसे पकड़ पाना मुश्किल होता है। उसी तरह से यदि कोई नारनौल या नांगल चौधरी से है और अहीरवाटी बोली में बात करता है तो अंबाला के आदमी के लिए उसे पहचानना मुश्किल होता है।

मेवाती के अपने रंग हैं। मेवाती की अपनी एक तासीर है। उसमें एक डैप्थ भी है और उसका एक इतिहास भी है। इसी तरह से पलवल के आसपास की ब्रज भाषा का जींद की बोली के साथ कनैक्शन एक दम समझ नहीं आता है।

इस तरह की विविधता एक तो इस वजह से होती है कि बहुत अधिक मोबिलिटी ना रहे। समाज विकसित ना हो। आर्थिक विकास का स्तर नीचा हो। 20वीं-21वीं सदी को देखते हुए औद्योगीकरण और शहरीकरण की मात्रा भी जितनी होनी चाहिए, वो ना हो।

अरुण कैहरबा- मेवात वास्तव में गंगा-जमनी तहजीब की एक मिसाल है। मेवात के बारे में अनेक प्रकार के भ्रम-भ्रांतियां और मिथ्या धारणाएं हमारे समाज में व्याप्त हैं और फैलाई जाती हैं। मेरा संबंध शिक्षा विभाग से है। हमारे यहां अध्यापक मेवात में स्थानांतरण को सजा के तौर पर देखा जाता है। इससे अलग जिन लोगों को वहां जाने का मौका मिला, वे वहां के हो गए। मेवात उनके दिल में बस गया। चूंकि सांस्कृतिक आदान प्रदान के मौके नहीं मिल पाते तो इस तरह की बातें चलती रहती हैं। मेवात की संस्कृति को इसके इतिहास क्रम में सिद्दीक अहमद मेव जी से जानना चाहते हैं।

सिद्दीक अहम मेव- मेवात विकसित हरियाणा का पिछड़ा क्षेत्र है। मैं मेवात को पिछड़ा क्षेत्र नहीं मानता जैसा लोग उदाहरण देते हैं कि बिहार व झारखंड से भी पिछड़ा। मैं मानता हूं कि मेवात विकसित हरियाणा का पिछड़ा क्षेत्र है। वरना तो मेवात का इतिहास इतना गौरवपूर्ण है कि आप उसकी गहराई में जाएंगे तो आपको लगेगा कि अगर वतनपरस्ती का सर्टिफिकेट किसी से लेना है तो वह

मेवात में आ जाए। मेवात की संस्कृति इतनी समृद्ध है कि भारत की जितनी भी लोक संस्कृतियां हैं, उन सबमें यदि मैं यह कहूं कि मेवाती संस्कृति ज्यादा समृद्ध है तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। हालांकि इसका डोक्यूमेंटेशन नहीं हो पाया।

एक कहावत है मेवात में कि मेवात मेवा है और यदि बिगड़ जाए तो जान का लेवा है। दोनों चीजें हैं - नरम भी है और सख्त भी है। मेवात शराफत से जीना चाहता है और अगर उसको लगा कि उसकी आन-बान और शान पर खतरा है तो वह बहादुर भी है।

शिवाजी को जो लोग निकाल कर लाए, वे लोग मेव थे। क्योंकि जो बड़े टोकरे थे, उनमें मेव विंध्याचल की पहाड़ियों पर ढुलाई का काम करते थे। खासकर नमक इधर-उधर ले जाने का। बड़े टोकरे होते थे, जिनको बांस पर लटकाकर कंधों पर रखकर वे पहाड़ चढ़ते थे और दूसरी तरफ जाते थे। लिखा यह गया है इतिहासकारों द्वारा कि शिवाजी को मेवों के टोकरों में छुपा कर लाया गया। लेकिन बाद में उसे मेव के स्थान पर मेवा बना दिया। कि वे बीमार थे, मेवा बांटी, यह एक भ्रांति हो गई।

खैर मैं मेवात पर ही आता हूं। गंगा-जमुनी संस्कृति का यदि कहीं संगम है तो वह मेवात है। मेवात एक ऐसा क्षेत्र है, जिसकी सीमाएं कभी एक जैसी नहीं रही। आज के मेवात की मैं बात करूं तो मैंने छह लाइनें लिखी थी-

दिल्ली सूं बेराठ तक, मथुरा पश्चिम रात
सदा सदा सूं ही रही अलड़-अबीड़ी बात
अलड़-बिड़ी बात पीर ये सदा सुभीता
दिल्ली कांधे ढ़ाल कईं तो जुग भी बीता
कहे मेव यूं सोच मोहे जग सू प्यारी
जात धर्म सू दूर सदा मेवात हमारी

यह मेवात की आज की बाऊंड्री भी है और एक करैक्टर भी है। मेवात की सीमाएं बदलती रही हैं। एक समय मेवात स्टेट भी था। एक वक्त ऐसा था जब दिल्ली की दक्षिणी सीमा से लेकर और गुजरात की उत्तरी सीमा तक का पूरा क्षेत्र ही मेवात कहलाता था। बाद में उसके तीन हिस्से मेवाड़, मारवाड़ और मेवात हो गए।

मेवाड़ का पुराना नाम मेधपाठ है यानी मेध प्रदेश। हम यह मानते हैं कि जो मेध लोग थे, वो ही आज के मेव हैं। यह बात मेवाड़ के इतिहासकारों ने भी लिखी है। इसी मेध को संस्कृत में मद्र कहा है। मद्रों की उपस्थिति हम महाभारत में भी पाते हैं। महाभारत के टाइम में मेवात मत्स्य प्रदेश, पूर्व में सूरसैन और दक्षिण में विराटनगर में था। इसी में मेध या मेव लोग आबाद थे। वैसे 2000ईसा पूर्व मेव कौम यूनान में भी बसती थी। वह अलग इतिहास है और काफी लंबा है, यदि मैं उसकी गहराई में जाऊंगा तो काफी टाइम लग जाएगा। लेकिन मेवात एक ऐसा क्षेत्र रहा है, जो हमेशा ही दिल्ली की सुरक्षा के लिए और इस देश की आन-बान के लिए लड़ता-भिड़ता रहा है।

ऐसी तीन घटनाएं हैं, जब मेव मुसलमान हो गए। सबसे पहले 712 में मोहम्मद बिन कासिम जब सिंध में आए तो उनका पहला मुकाबला मेधों से ही हुआ था। मेध असल में वे मेव थे और अरबों ने इसलिए उसे मेद लिखा। अरबी का शब्द है - मोन्निस जिसे कहते हैं। अगर कुछ लोग उर्दू या अरबी जानने वाले हों तो मीन और वाव जहां एक साथ आ जाते हैं तो वहां वाव दाल में बदल जाता है। इसलिए उन्होंने मेव को मेद ही लिखा है। सबसे पहले टकराव उनसे हुआ। बाद में दाहिर से हुआ और कासिम के समय में सबसे पहला धर्मांतरण हुआ। उसके बाद 1041 से 1058 के बीच सैयद सादार मसूद गाजी के समय में मेवों का धर्मांतरण हुआ।

हम मानते हैं मेवात के इस समय तीन हिस्से हैं। सही शब्द फारसी का है, जहां पानी बहता हो। यह क्षेत्र बाढ़ ग्रस्त होता था, इसलिए इसे आबरेज कहा जाता था। तीसरा हिस्सा अरावली की छोटी पहाड़ी के पूर्व का हिस्सा, जिसे हम भयाना कहते हैं। लेकिन एक वक्त ऐसा भी था, जब ब्रज को मेवात का चौथा हिस्सा माना जाता था। जिसको ब्रज मेवात कहा जाता था। ब्रज के बहुत सारे शायर मेवात में हुए हैं। मेवाती शायरी को यदि आप पढ़ें तो आप अंदाजा नहीं लगा पाएंगे कि यह ब्रज में लिखा है या मेवाती में लिखा है। क्योंकि ब्रज मेवात का हिस्सा था तो पूर्वी मेवाती पर ब्रज का पूरा प्रभाव आज भी नजर आता है। इसी प्रकार दक्षिणी मेवात पर राजस्थानी का प्रभाव नजर आता है। अरावल के पश्चिम का हिस्सा, जिसे हम मेवात की तंवर पालें कहते हैं।

तीसरा 1192 में जब मोहम्मद गौरी का हमला हुआ, उससे तीन दिन पहले ख्वाजा मोईनुद्दीन चिश्ती अजमेर में आ गए थे, उसके बाद उन्होंने दिल्ली से अजमेर तक का पैदल सफर किया। कहते हैं कि उस पैदल यात्रा में सवा लाख लोग मुसलमान बने। मेवों की जो पांच जादू पालें मानी जाती हैं। उस वक्त मुसलमान बनी। आखिरी धर्मांतरण फिरोजशाह तुगलक के समय में हुआ। उस समय मेवात में गांव था खानजादा, जहां पर हसन खां मेवाती नाम का राजा होता था। उनका धर्मांतरण आखिरी में हुआ।

लेकिन मुसलमान होने के बाद भी मेवों ने ना तो अपनी परंपराएं छोड़ी और ना अपना करैक्टर छोड़ा। मुसलमान होने के बाद वे लोग बलबन से लड़े, क्योंकि बलबन विदेशी था। दिल्ली पर उसका शासन था। दिल्ली पर कुतबुद्दीन ऐबक से लेकर मुगलों तक मेव लगातार दिल्ली के खिलाफ संघर्ष करते रहे। कुतबुद्दीन को भी एक बार अजमेर के किले में घेर लिया था। किला बंद कर लिया। जब गजनी से फौजें उसकी मदद के लिए पहुंची तब ही कुतबुद्दीन

किले से बाहर आ पाए। वरना तो सल्तनत का शायद वहीं खात्मा हो जाता। उसके बाद अलाउद्दीन खिलजी ने जब चित्तौड़ पर हमला किया। तब भी मेवातियों ने उन्हें रोकने की कोशिश की। अलाउद्दीन खिलजी के पास जितने संसाधन थे, सेनाएं और हथियार थे, उनको रोकने में असफल हुई। बाबर से भी हसन खां मेवाती ने एक बड़ा संघर्ष किया। बाबर को बुलाने में कहा जाता है कि इब्राहिम लोदी के एक भाई महमूद लोदी और राणा सांगा दोनों ही उस साजिश में शामिल थे, जिन्होंने बाबर को दिल्ली पर हमले के लिए उकसाया। शर्त यह रखी गई थी कि दिल्ली का शासन महमूद गजनवी को दिया जाएगा। महाराणा सांगा का मेवात से आगरा तक का स्टेट, उन्हें दिया जाएगा। बाबर ने जब यहां रहने का निश्चय कर लिया तो फिर राणा सांगा और महमूद लोदी दोनों ने उनका विरोध किया। दिल्ली से आगरा, जहां तक महरौली की कुतुबमीनार है, वहां तक मेवात था। अलाउद्दीन खिलजी की जहां राजधानी थी, वह कल्लू खेड़ी नामक मेवों का गांव था। बाद में उन्होंने अपनी राजधानी वहां से हटा कर बनाई। बाद में वह किलोपड़ी के नाम से मशहूर हुआ।

दिल्ली और मेवाड़ के बीच में मेवात की रियासत थी। जिससे उस वक्त के राजा हसन खां मेवाती थे। दोनों ने उन्हें अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की। हसन खां मेवाती पानीपत की लड़ाई में इब्राहिम लोदी के साथ थे। क्योंकि वे इब्राहिम लोदी के मौसेरे भाई थे और दिल्ली के कोतवाल या एडमिस्ट्रेटर थे। वे बाबर की युद्ध शैली, उसका जज्बा और तोपें भी देख चुके थे। लेकिन उनका बेटा उस युद्ध में बाबर ने कैद कर लिया था। उस बेटे को छुड़ाने उसने अपने हिन्दु मंत्री कर्मचंद की ड्यूटी लगाई। बाबर ने धर्म का वास्ता दिया कि हम दोनों मुसलमान भाई हैं। इसलिए उसे मुसलमान का साथ देना चाहिए, काफिर का साथ नहीं देना चाहिए। तो हसन खां मेवाती ने बहुत माकूल जवाब दिया। उन्होंने कहा कि आप भी मुसलमान हैं और मैं भी मुसलमान हूं, यह मैं मानता हूं। इस नाते से हम भाई हैं। लेकिन आप आक्रांता है। मेरे देश पर हमला किया है। राणा सांगा मेरे खूनी भाई हैं, मेरे वतन भाई हैं। इसलिए मेरा धर्म आज यह कहता है। मेरा दिल आज यह कहता है कि मैं आक्रांता का साथ नहीं देकर अपने खूनी भाई व वतन भाई का साथ दूं।

बाबर ने सोचा कि इसके बेटे को रिहा करने पर शायद यह मान जाए। लेकिन जैसे दिन में यह समाचार मिला कि उनके बेटे को छोड़ दिया गया है, तो वे राणा सांगा से मिले और खानवां के युद्ध में शहीद हुए। उसके बाद मुगल सत्ता जाने के बाद अंग्रेज आए।

1857 की क्रांति में मेवात का जो हिस्सा गुड़गांव में था, उसकी आबादी 110400 थी। लेकिन 10400 की आबादी, जिसके पास गुड़गांव की 30 प्रतिशत भूमि थी, उस क्षेत्र में सात युद्ध अंग्रेजों के खिलाफ लड़े। एक तरफ तोपें और व्यवस्थित सेना थी, दूसरी तरफ तलवारें थीं, तोड़े और जेलियां थी, लेकिन उनका जज्बा और वतनपरस्ती का इससे बड़ा सबूत क्या हो सकता है कि उस वक्त के वायसराय लॉर्ड केनिंग ने कहा कि मेवातियों ने उस समय के मुसलमान राजाओं को तो तंग किया ही था, लेकिन अंग्रेजों को तो कुछ ज्यादा ही तंग किया। ब्रिगेडियर जरनल सावर्स की मेवातियों को कुचल डालने की ड्यूटी लगाई गई थी, उन्होंने अपनी डायरी में लिखा कि जब से मैं इस जिले में आया हूं, घुड़सवार मेवातियों के हमलों का डर हमेशा बना रहता है। हमें अपनी जान बचाने के लाले पड़े हुए हैं। हम माल को तो कैसे बचाएं।

मेवातियों ने हमेशा चाहे जब वे हिन्दू थे और बाद में मुसलमान थे, उनके करैक्टर में जो वतनपरस्ती और देशभक्ति का जज्बा और भाईचारा था, उन्होंने वह कभी नहीं छोड़ा। उस समय से आज भी वह जज्बा बना हुआ है। अगर कोई देखना चाहे तो मैं उन्हें मेवात में आमंत्रित करता हूं। मेवात की संस्कृति का गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि वह जज्बा आज भी किसी ना किसी रूप में कायम है।

मेवाती संस्कृति में सिर्फ मेवाती परंपराएं नहीं हैं, बल्कि हिन्दू मुस्लिम दोनों परंपराओं का एक संगम है। भात नौतना, कूआं पूजन, चाक पूजन आदि कोई इस्लामिक परंपराएं नहीं हैं, बल्कि ये वे परंपराएं हैं, जो उनके खून में रमी हुई हैं। समाज की जड़ों और परंपराओं से वे आज भी जुड़े हुए हैं। वे परंपराएं आज भी जिंदा हैं, जैसे इंडोनेशिया में उनकी पुरानी परंपराएं जिंदा हैं। जिस तरह से बरात को रिसीव करते हैं, हमारे यहां खेत का नेग कहते हैं। वह परंपरा भी इस्लामी परंपरा नहीं है।

आज भी वो किसी बड़े से बड़े मौलवी को वे कह देते हैं कि आप अलग हो, यह मामला हम सुलझाएंगे। सामाजिक संगठन की मजबूती और उनकी परंपराओं की मजबूती के कारण वे उन्हें नहीं छोड़ना चाहते। यही कारण है कि वे बड़ी से बड़ी समस्याओं को अपने आप अच्छे से सुलझा भी लेते हैं।

मेवाती साहित्य अपनी तरह का अलग साहित्य है। मेवाती साहित्य का जब हम अध्ययन करते हैं तो पाएंगे कि मेवाती पश्चिमी हिन्दी से निकली है। पश्चिमी हिन्दी से ब्रज और राजस्थानी निकली और राजस्थानी से मेवाती, मारवाड़ी, मालवी और जयपुरी चार भाषाएं निकली और फिर मेवाती से अहीरवाटी और गुजरी निकली। इस तरह से अहीरवाटी व गुजरी बोली पर आप मेवाती का प्रभाव महसूस करेंगे। लेकिन पूर्वी मेवाती पर ब्रज का प्रभाव है और दक्षिणी मेवाती पर राजस्थानी का प्रभाव भी साफ नजर आता है। मेवाती लोक साहित्य भी मेवाती परंपराओं की तरह हिन्दू-मुस्लिम रिवाजों

का एक संगम है। आज भी मेवात का कवि अपने इष्ट देव, अपने खुदा व ईश्वर का नाम लेकर शुरू करता है। मेवाती शायर भी करते हैं। मैं कुछ उदाहरण देता हूं।

हसन खां मेवाती की कथा एक नरसिंह मेव नाम के शायर ने लिखी थी। वह कथा खानवां के युद्ध के कोई 70 साल बाद लिखी गई। उस वक्त वो हिस्सा ब्रज-मेवाती कहलाता था। वह किस्सा ब्रज मेवाती में है। अब वो अपनी बात को किस तरह शुरू करते हैं-

नारायण से विनती करो, हाथ जोड़ मन आखिर धरो
ओविल सुर एक खुदाई, पैगम्बर के लाख उपाई।

पहले उन्होंने नारायण को याद किया। ईश्वर को याद किया। फिर पैगम्बर को याद किया।

बढ़ा फिर ध्वजा मेरी, जिन गुण कण सब हेरी

यह परंपरा रही है मेवात की। मेवात के सांगी व ढ़ोलकिया जब भी शुरू करते हैं

मेवात का एक अल्लाबक्श सांगी था। वह तो बाकायदा गणेश जी को याद करता था।

मनाऊं मैं तो गौरी के नंद गणेश
माता जाकी पार्वती पिता हैं महेश
मनाऊं मैं तो गौरी के नंद गणेश

इस तरह मेवात के आखेड़ा गांव में महाकवि सादल्ला हुए हैं। सादल्ला ने महाभारत की कथा को मेवाती में लिखा है। उस कथा के पांच हिस्से हैं, जिसमें तकरीबन 18 सौ या साढ़े 18 सौ के करीब दोहे हैं। इस कथा का मैंने संकलन किया है। सारे दोहे नहीं मिलते। क्योंकि 1947 में जो उन्होंने लिखा था। उनकी हाथ से लिखी पोथी थी। उस वक्त जब यह फैसला हुआ कि जब हम पाकिस्तान जा रहे हैं तो उन्होंने वह पोथी कूएं में डाल दी। वह पोथी बक्से में बंद करके कूएं में डाल दी गई और कुआं बंद कर दिया गया। उससे वह पोथी नष्ट हो गई। जितनी कंठस्थ परंपराओं में चल रही थी, उसको मैंने संकलित करने की कोशिश की। लगभग साढ़े आठ सौ दोहे अब तक मुझे मिल चुके हैं। मैंने सादल्ला की सारी कथा को संकलित किया है। सादल्ला जब अपनी कथा शुरू करते हैं, देखिए वह किस तरह से-

वही सरस्वती देव, वही घट हृदय खोले
वही बतावै ज्ञान, वही मन भीतर बोले
तोला वही अतुल पाप और पुण्य को तोले
नर्क उई ही दे, स्वर्ग भी वोही खोले
सच्चे हृदय ध्यान सू सदा जपो भगवान
सादल्ला पे दया हुई, वाई ने दियो ज्ञान

यहां से वे महाभारत की कथा शुरू करते हैं। कहीं उन्होंने इस्लाम की बात नहीं की, कहीं उन्होंने बिस्मिल्ला की बात नहीं की, जिसे इस्लाम में सुन्नत माना जाता है। किसी काम को शुरू करने से पहले बिस्मिल्ला पढ़नी चाहिए। जिस रिदम में उन्होंने महाभारत की कथा शुरू की, उसी में उसकी शुरूआत भी की।

मेवाती समाज एक ऐसा समाज है। जहां बात बात में दोहे, बात बात में कहावतें और लोकोक्तियां कही जाती हैं। अक्सर समाज की पंचायतों में बहुत सारे लोगों द्वारा दोहों की मिसालें दी जाती हैं। वह दोहे भी इसी तरह होते हैं। तुलसीदास की पत्नी प्रेम की कथा पर मेवाती शायर कैसे कहता है, बानगी देखिए-

जितनो हेत हराम सू, उतनो हरफ सू होए
चलो जहां बैकुंठ तुलसी पल्ला पकड़ सके ना कोए।

लोक साहित्य मेवाती का मर्म या दिल है। यह लोक साहित्य आज भी मेवाती जीवन में नजर आ जाएगा। हालांकि मेवात में नई पीढ़ी फिल्मों व इंटरनेट से जुड़ गई है। लेकिन जो पुराना मेवाती है, वह सामाजिक समारोहों में मिरासी गाते हैं। पुराने लोग सादल्ला द्वारा लिखी गई महाभारत की कथा को सुनना पसंद करते हैं।

हालांकि मेवाती लोक साहित्य की दो विशेषताएं हैं। मेवाती बात या कथा तथा मेवाती दोहा। मेवाती बात या कथा एक साथ गद्य व पद्य में होती है। पहले दोहा कहा, फिर बात आगे बढ़ी। परिस्थिति के हिसाब से कथा आगे बढ़ती जाती है। मेवाती लोक साहित्य में जितनी कथाएं लिखी गई, अब उन कथाओं में भी देखिए। एक कथा है-चंद्रावल गुजरी की बात, जो कृष्ण लीला पर आधारित है। वहां शायर मुसलमान है। 36 करोड़ देवताओं को भी स्मरण करता है। कृष्ण लीलाओं का चित्रण करते हुए कथा को आगे बढ़ाता है। इसी तरह गौरा का छल है, जिसमें महादेव की लीला दिखाई गई है। राजा बासुक की बात है। राज बासुक शर्पराज कहे जाते हैं। उनकी लीलाएं दिखाई गई है। इसी तरह महाभारत में कितनी ही मर्मस्पर्शी प्रसंग हैं कि पढ़ने वाला सोचने पर मजबूर हो जाता है कि शायर की नजरें कितनी गहराई तक इस कथा पर गई हैं। दूसरी ओर मेवाती लोक साहित्य में जयपुर जोधा की बात, हाजी की बात इस्लामी मिथ पर आधारित हैं, लेकिन मेवाती लोग पहले महाभारत की कथा को सुनना पसंद करते हैं।

जब हम पीछे देखते हैं तो अपनी जड़ों की तरफ देखते हैं। धर्म मजहब आस्था की बाते हैं, जिसको जो पसंद है, वह उसको माने। हमारी परंपराएं, हमारी विरासतें, हमारे चारित्रिक गुण, हमारे खून व हमारा डीएनए मिलता है। मैंने जितना मेवाती संस्कृति का अध्ययन किया है, मुझे लगा है बहुत कीमती भाग उस संस्कृति का खत्म हो चुका है। लेकिन हम अब भी यही सोचते हैं। एक मेवाती शायर ने बहुत अच्छा कहा है-

कबीरा बाड़ी उजड़ गई, गयो बाळधो खाय।

अब भी कुछ सार कर, जो कुछ पल्ले पड़ जाय।

आज की पीढ़ी जो उस संस्कृति से कट चुकी है। बेशक कुछ यूनिवर्सिटी के लोग रिसर्च कर रहे हैं। मेरे पास बहुत से रिसर्च स्कोलर आते हैं, लेकिन डिग्री लेना एकमात्र मकसद होता है।

प्रदीप कासनी-आज मेवाती समाज में जिस तरह की चुनौतियां हैं। खासतौर पर एक तो जो साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हो रहा है। आप तो कह रहे हैं कि मेव लोग गहरी परंपरा रखते हैं। उनका ऐतिहासिक बोध गहराई तक जाता है। माईथोलोजिकल डैप्थ भी है और एक क्रियेटिव स्पीरिट है, जोकि फोक के क्षेत्र में एक्सप्रैशन पाती है। उसमें रिचनैस है। इस सब दौलत को लिए हुए आज मेवाती को घेरा जाता है कई बार। उसको मुसलमान बताया जाता है। उसकी वल्नरेबिलिटी बढ़ा दी गई है। वह खतरा महसूस करता है। मेरे मित्र है मेवों में। वहां तैनाती के दिनों में भी मैं वहां एक दो घरों में गया। भीतरी तौर पर डर उनका निकल कर आता है कि हमें लग रहा है कि कुछ बुरा होने वाला है। कल्चर या लिटेररी प्रोडक्शन आज की स्थिति को किस तरह से ले रही हैं।

सिद्दीक अहमद मेव- आज की जो स्थिति है। या 90-100 सालों से जो स्थिति बनी है। हमारे यहां ये कहा जाता था कि जाट और मेव दोनों कौमें साथ-साथ चली हैं। आज भी 28-30 गोत हमारे जाटों, गुजरों व राजपूतों से मिलते हैं। मीणें हमारे मेवों में भी हैं। मेवाती समाज 12 पाल, जिन्हें आप खाप कहते हैं और 52 गोतों पर आधारित है। पालों में मीणे भी शामिल हैं। सामाजिक ताना-बाना आज काम कर रहा है। लेकिन पिछले 90 सालों में आर्य समाज ने जाटों को और तबलीग ने मेवों को प्रभावित किया। आर्य समाज ने जाटों का हिन्दू धर्म से परिचय कराया और तबलीग ने मेवों को मुस्लिम धर्म से परिचित कराया। आज 92 साल तबलीग को काम करते हुए हो गए। लेकिन आज वो परंपराएं, कोशिश भी हुई। पहनावा जरूर बदला। घाघरी और चोली की जगह सलवार कमीज आ गई। चुन्नी की जगह दुपट्टा आ गया। वह अलग चीज है। लेकिन जो सोच और जो कैरैक्टर था, उसमें आज भी कोई बदलाव नहीं आया है।

47 में जब देश का बंटवारा हुआ। उस समय के पंजाब के डिस्ट्रिक्ट गुड़गांव के मेवात में शांति थी। मैंने जो स्वतंत्रता सेनानी थे, या जो आज भी जिंदा थे। एक तो मौलाना पिछले दो महीने हुए उनका इंतकाल हुआ। मैं उनसे बातचीत करता रहता था। मैंने कहा कि कैसे आप शांत रह गए। उन्होंने बताया था कि कोशिश तो यहां भी हुई थी। लेकिन हमारी सोच ही नहीं रही कि धर्म के नाम पर भी लड़ा जाता है। हम जब सुनते थे कि बारदौली व कलकत्ता में हिन्दू-मुस्लिम लड़ रहे हैं। पंजाब में हिन्दू-सिक्ख लड़ रहे हैं तो हम हंसते थे कि कैसे लोग हैं जो धर्म के नाम पर लड़ते हैं। धर्म तो भाईचारा सिखाता है। लेकिन अकबरपुर और भरतपुर रियासत के जो मेव थे, वहां मिलीटरी उनका कत्ल कर रही थी। कत्लेआम हो रहा था। वे यहां आए। लोगों ने सोचा कि अब क्या किया जाए। कई जाटों का भी बहुत अच्छा हाथ था।

लेकिन पहली कोशिश मेवों की तरफ से फैसला यह हुआ कि हम हिन्दोस्तान नहीं छोड़ेंगे। हमें पाकिस्तान किसी भी हाल में स्वीकार नहीं है। कोशिश हुई। वे गांधी जी मिले। गांधी जी को बहुत अफसोस हुआ। चौधरी अब्दुल हईद उनसे मिले। गांधी जी ने उन्हें दो दिन बाद आने को कहा। जब उन्हें बताया गया कि मथुरा और गुड़गांव जिला के कांग्रेसी भी उन्हें पाकिस्तान भेजना चाहते हैं तो गांधी जी को बड़ा दुख हुआ। तीसरे दिन जब वे ये गए तो वो नहीं आए। गांधी जी ने कहा कि बुलाने पर भी जब वे नहीं आए तो इसका मतलब साफ है कि आप सही हो, वे गलत हैं। मैं कोशिश करूंगा। मौलाना आजाद और ये सब लोग नेहरू से मिले। लेकिन पंजाब के मुख्यमंत्री पंडित गोपीचंद भार्गव किसी भी तरह से सहमत नहीं हो पा रहे थे। 20 सितंबर को एक डेलीगेशन बिड़ला हाउस में गांधी जी से मिला, जिसमें 60-70 मेव शामिल थे। गांधी जी के बोलने से पहले उन्होंने कहा कि हम हिन्दोस्तान व मेवात नहीं छोड़ेंगे, हम यहीं मर जाएंगे। हमें मार दो, दफना दो। लेकिन हम हिन्दोस्तान नहीं छोड़ेंगे। कहते हैं तब गांधीजी की आंखों में आंसू आ गए। गांधी जी ने तब यह कहा था कि गांधी जी भी उन लोगों के साथ मेवात में मरना पसंद करेगा, जो अपनी मातृभूमि में मरना पसंद करते हैं। उसके बाद 19 दिसंबर, 1947 को गांधी जी घासेड़ा गांव में आए और उन्होंने कहा कि मेवात हिन्दोस्तान की रीढ़ की हड्डी है। उनको जबरदस्ती उनके घरों से नहीं निकाला जा सकता। उसके बाद वह तहरीक शुरू हुई। कुछ लोग तो कहते हैं कि गांधी जी को जो गोली मारी गई, वह सिर्फ इसलिए मारी गई कि उन्होंने दिल्ली के करीब इतनी बड़ी मुस्लिम जनसंख्या को यहां रहने का निर्णय लिया। जबकि लोग नहीं चाहते थे कि इतनी बड़ी जनसंख्या दिल्ली के करीब रहे।

उसमें सोनल गांव के चौधरी राधे लाल जाट थे, एक बहीन के थे, इन लोगों ने सोनल गांव में 36 बिरादरी की एक बड़ी पंचायत की, जिसमें यह तय किया गया कि कोई पाकिस्तान नहीं जाएगा। कोई किसी को पाकिस्तानी नहीं कहेगा। सब लोग भाईयों की तरह एक रहेंगे और अगर बाहर के लोग इस तरफ हमला करेंगे, जैसा कि हो रहा था, यूपी की तरफ से हमले हो रहे थे। तो सारे भाई उसका मिलकर मुकाबला करेंगे। यह बड़ा काम करने वाले राधे लाल को

Home

बहुत इज्जत के साथ याद किया जाता है। उनके साथ पूरी टीम थी।

जहां तक आज का संदर्भ है, बहुत सारी अमूल्य धरोहर जोकि हमारी संस्कृति की थी, खत्म हो गई। क्योंकि पाकिस्तान में कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने डोक्यूमेंटेशन किया। हम लोग कोशिश कर रहे हैं कि उनके काम को भी देखा-समझा जाए।

अरुण कैहरबा- बहुत सी चर्चाएं हैं हरियाणा के बारे में। खाप पंचायतों, कन्या भ्रण हत्याओं और ऑनर कीलिंग के लिए हरियाणा जाना जाता है। हरियाणा जातिगत भेदभाव, हिंसा के लिए जाना जाता है। यहां हरसौला, दुलीना, मिर्चपुर जैसी घटनाएं हुई है। इनकी आलोचना जरूरी है। साथ ही साथ हरियाणा की संस्कृति में सकारात्मक पहलू हैं, उन्हें उभारे जाने की जरूरत है ताकि विकल्प निर्मित हो सके।

प्रदीप कासनी- हरियाणा की संस्कृति पर जब बात करते हैं तो सबसे बड़ा खतरा इसी ट्रैप का होता है कि हम ज्यादातर माईथोलोजिक अतीत में चले जाते हैं। उसकी स्मृतियां गिनाते हैं, लेकिन उसके ट्रैप में भी फंस जाते हैं।

जब हम कल्चर बनाते हैं तो यह कल्चर हमें भी बना रही होती है। इस कल्चर में से जब हम बनते हैं तो बेहतर होते हैं। मोडरनाइज होते हैं। सेक्यूलर होते हैं और समाज के प्रेमी होते हैं ना कि उसे बांटने वाले और बेहतर इंसान भी होते हैं। इन्सानियत की वुक्कत को समझने वाले और उसके प्रति प्रतिबद्ध होकर काम करने वाले। यह चीजें मौजूद हैं। इन चीजों को हम वर्तमान कल्चरल प्रैक्टिस में कुरेद कर निकाल पाते हैं। कितना उन्हें अंडरलाईन कर पाते हैं। कितना उन्हें हाईलाईट कर पाते हैं। यह महत्वपूर्ण बात है एक कल्चरल एक्टिविस्ट के लिए।

मेवात के सिलसिले में मेवात में मुझे लंबी दाढ़ी वाले मिले और पूछा- कौन हो? मैंने कहा - मैं हिंदू हूं। अरे भई हो कौन? मैंने कहा - हिंदू। फिर बोले - हो कौना। मैंने कहा - जाट। फिर वो जोर-जोर से हंसे। वहां जो उन्होंने बात कही थी, वहीं से सिक्यूलरिज्म का पाठ मिला था।

जाटन का कहां हिंदू और मेवन का कहां मुसलमान।

मेवात के सिलसिले में, जाटों, गुजरों व राजपूतों के सिलसिले में एक बात महत्वपूर्ण है। 1857, 58 और 59 में भी जो लोग फांसी टूटे थे, उन लोगों की हमारे पास फेहरिस्तें बनीं। उनको आप एनेलाइज करें तो देखेंगे कि ज्यादातर लोग ऊंचे दर्जे के नहीं हैं। वे लैंडलोर्ड भी नहीं हैं। ज्यादातर शिल्पी वर्ग से हैं। लुहार, तेली व नाई आदि हैं। इस तरह जो लोग नाई, तेली आदि हैं, ज्यादातर वे लोग फांसी टूटने वालों में थे। मुगलों के समय भी एक खानजादे होते थे। जो राजनैतिक सौदेबाजी करते रहे हैं। बाकी लोग ज्यादातर खेती करने वाले या हैंड टू माउथ रहे हैं। और सर्विस सेक्टर में मेव गए मुगल पीरियड में। डॉ. सूरजभान भारद्वाज की बहुत महत्वपूर्ण किताब आई है। उसमें डाक मेवडे का जिक्र है। डाक का काम। शाही संदेश इधर से उधर पहुंचाने का काम मेव लोग करते रहे हैं।

फोकस करने की बात यह है कि जो मेहनत करने वाला तबका है। जो प्रोड्यूस करता है। उसकी जिंदगी के हालात क्या हैं। उसे कलाकार, लेखक व फिल्मकार के नाते हम कैसे देख पाते हैं। उसे हम कैसे रिप्रेजेंट करते हैं। यह महत्वपूर्ण बात है। जो कई बार सांग, रागनी में लखमीचंद व मांगे राम का सांग हुआ, उसमें कभी भी नहीं आती। जबकि इन विधाओं का बेहतर इस्तेमाल हो सकता है।

एक्सिलेंस के प्रोडक्टस को ही कल्चर नहीं कहते। जो अतीत में रचा गया-बिल्डिंग, मूर्ति व कला रचनाएं। इनका महत्व है। लेकिन यह कल्चर नहीं है। कल्चरल एक्टिविटी के तौर पर या कल्चरल व आइडिओलोजिकल स्ट्रगल के तौर पर उस तरफ बराबर और बार-बार ध्यान लाए जाने की जरूरत है। हमारी कल्चर में ज्यादातर हिस्टोरीकल मेमोरी मौजूद रहती है।

आइडेंटिटी पोलिटिक्स में आज जैसा माहौल बनाया जाता है। उसमें किसी के बारे में कुछ भी कहेंगे तो लोग बहुत ज्यादा तुनक मिजाज, बहुत ज्यादा पिलपिली संवेदनाओं वाले लोग तैयार करके खड़े किए हुए हैं। कल्चर अपना काम ना करे, इसके लिए फासीवाद की तरफ से तैयार किए गए ओटड़े हैं। इनको कैसे ढ़हाया जाए कल्चर एक्टीविटी के जरिये। राजनैतिक गतिविधि के तौर पर कल्चर, या उप राजनैतिक गतिविधि हमेशा ध्यान में रखनी होगी। उसके बगैर कल्चर समझ में नहीं आएगी और हम बार-बार वहीं जाते रहेंगे। जहां से उसे निकाल कर लाने की जरूरत है। इसमें जितना क्रिएटिव होने की जरूरत है, उतना ही थिंकिंग की बात भी है। आर्टिक्यूलेशन की बात भी है। हरियाणा की पोजिटिविटी भी इसी में है और नेगिटिविटी भी इसी में है कि हम चीजों को आर्टीक्यूलेट नहीं कर पाते हैं। समझते हैं कई बार कह नहीं पाते हैं। आर्टीक्यूलेशन के भी मायने दोनों-अभिव्यक्ति भी और दूसरे से जुडऩा भी। जैसे डब्बों के साथ इंजन जुड़ जाता है। दोनों आर्टीक्यूलेशन बहुत जरूरी हैं।

यह काम कुछ इदारों में हो भी रहा है और यह सरकार से दूर के इदारे हैं। महत्वपूर्ण काम है। थोड़े लोग बैठते हैं। चर्चा करते हैं। अपने कन्फ्यूजन को जाहिर करते हैं और बातचीत से क्लेरिटी लाने की कोशिश करते हैं। यह इदारे जगह-जगह बनें और बड़े स्केल पर भी ओपरेट हों और एक दूसरे से व्यक्तिगत स्तर पर भी लगाव का माहौल बने तो कल्चर में काम करने का मौका मिलता है। वरना अवसर नहीं होता है। आप कुछ भी बोलेंगे तो अटैक बहुत जल्दी आपके लिए तैयार होता है। वैसे भी मिनीमम सुविधा जरूरी होती है।

जैसे महिलाओं के लिए लिखा था कि कमरा तो अपना होना चाहिए वरना आप उपन्यास कैसे लिख पाएंगे। वरजिनिया वुल्फ का। अपना कमरा बनाना हम सबकी जरूरत है। वह कमरा यदि आपको खुले में बनाने का मौका नहीं मिल रहा तो चोरी छिपे बनाया जाए। वह आपको डेमोक्रेटिव माहौल में आपको मौका नहीं मिल रहा तो आप सबवर्सिव मोड में जाकर काम करें। सोचें जरूर। आपको जिंदा रहना है और आदमी के रूप में जिंदा रहना है। आदमियत के ठाठ के साथ जिंदा रहना है। उस पर लगातार हमला हो रहा है तो फिर यह सोए रहने का समय नहीं है। यह ओर्डर के लिए हरियाणा का अवाम मौका भी देता है। सपोर्ट भी करता है। बशर्ते हम उसको जान पाएं कि किस तरह के रिसोर्सिस हैं। हमें वह रिसोर्सिस लेने व मांगने का तरीका आता हो।

अविनाश सैनी- एक तो चीज यह लगती है, जब संस्कृति की बात आती है तो जो प्रभावशाली तबका है। उसी को पूरे गांव समाज की पूरे प्रदेश की संस्कृति मान लिया जाता है। हरियाणा 1966 में बना जबकि 1947 में एक बहुत बड़ा तबका यहां आ चुका था 20 साल पहले। उसकी जो संस्कृति व सांस्कृतिक मूल्य हैं। उसे हरियाणा की संस्कृति का हिस्सा नहीं माना जाता। एक बहुत बड़ा तबका है प्रवासी मजदूरों का। हमारे विकास में हरियाणा को बनाने उनकी बहुत बड़ी भूमिका है। मुस्लिम की बात आ गई है। दलित जो गांव में बड़ी संख्या में होते हैं, उनकी संस्कृति भी इस प्रदेश की संस्कृति नहीं है। इसे कैसे देखा जाए?

दूसरी चीज यह है कि जैसे 40 गांव छोड़ दिए, जहां कोई शादी नहीं हो सकती। और यहां बहुत से गांव ऐसे हैं, जहां गांव के गांव में शादियां होती हैं। एक इलाका ऐसा है जहां पर घूंघट ही घूंघट है। एक इलाका ऐसा है जहां पर घूंघट नहीं है। यहां पर ऐसी परंपराएं हैं कि मामा और बूआ के बच्चों में आपस में शादियां होती हैं और दूसरी तरफ मरने-मारने पर तैयार होते हैं। यह जो उलझने हैं उन्हें रैस्पोंड कीजिए।

पाजिटीव यह है कि हमारे जो गीत हैं, जितने भी शुभकाम होते हैं। पहला गीत यह है-

पांच पतासे पना का बिडला, ले सैयद पर जाईयो जी

प्रदीप कासनी- यही पोजिटिविटी है जिसकी ओर आपने संकेत किया है। कल्चरल स्टडी में हम इसे सिंक्रीटीज्म कहते हैं। यानी मिश्रित संस्कृति है। हिन्दू-मुस्लिम का भेद यहां था नहीं। पैदा किया गया है। उसका रसिस्टेंस भी उसके भीतर इनबिल्ट है। इथनोग्रेफी की बात सिद्दीक साहब कर रहे थे। इथनोग्रेफी की ही बात करें तो जाट यहां की डोमिनेंट कास्ट रही है। इसका कास्टिफिकेशन चल ही रहा है। उसमें 42-43 प्रतिशत मुसलमान हैं। जाट को तो छोटू राम के समय तक यह कहते थे कि जाट जाट होता है। चाहे वह मुसलमान बन जाए। जाट का हिन्दूकरण तो अब होने लगा है दो चार साल से। उसके साथ ही उसमें कास्ट की चेतना आई। कास्ट में भी डोमिनेंट कास्ट वाली आई है। यह किसका गांव है-जाटों का गाम। गांव में यदि नाई का घर है और नाई के पास आधा एकड़ जमीन है तो उसका भी गांव क्यों नहीं है। इसका जवाब तर्क के मैदान में तो कोई देता नहीं है। कानून की भाषा में तो सबका गांव है। लेकिन पापुलर कल्चर में उसके खांचे बना दिए जाते हैं। आइडेंटिटी के नाम पर जिनसे फायदा होता है, उसको उभारा गया। वो लोग फिर इस तरह की बातें करते हैं। फिर उसके रिएक्शन में पोलिटिक्स होती है। उससे माहौल खराब होता है और दंगे-फसाद का माहौल बन जाता है। इसकी काट भी जब लोगों को बोलने का मौका दिया जाए और हम अपनी कल्चरल इंटरवेन्शन के साथ जाएं। सही आइडोओलोजी के साथ जाएं तो लोग उसको सुनते हैं और तैयार हैं उन बातों के लिए। इसके लिए बार-बार लोगों के बीच में जाना पड़ेगा और दूसरी चीज यह है कि कल्चर को पोलिटिक्स हमेशा एक्सक्ल्यूसिव टर्म्स में डिफाइन करती है। यानी कि यह कल्चर है और खबरदार जो उसमें दूसरे दाखिल हुए तो। आप उसे ज्यादा से ज्यादा इंक्ल्यूसिव बनाएंगे तो उसका इलाज यही है। यदि हम सजग होंगे तो लेखनी में भी हम इसका इस्तेमाल करेंगे।

यशपाल शर्मा-पिछले एक-डेढ़ साल में मैंने कई किताबें पढ़ी हैं। पंडित लख्मीचंद पर फिल्म बना रहा हूं तो उसके संदर्भ में जितनी भी चीजें पढने की कोशिश कर रहा हूं। एक बहुत बड़ी चीज मेरे सामने आई। संस्कृति में सच्चा किसको मानें। कोई ब्राह्मण लिखता है तो वह ब्राह्मण की चीजों को ज्यादा उजागर करता है। कोई जाट लिखता है तो वह जाटों की चीजों को ज्यादा उजागर करता है और दूसरों की नहीं। कोई दलित लिखता है तो वह सब चीजें छोड़ कर उन्हीं की चीजें लिखता है। तो असल चीज क्या हुई थी उस वक्त। यह समझ ही नहीं आ रहा है तो फिर कल्पना में जाना पड़ता है उसके लिए। इसके बारे में आपका क्या कहना है। जिसने ज्यादा किताबें लिख दी और इतिहास बना दिया। आज कल तो इतनी किताबें छपने लगी हैं। अपने-अपने पक्ष में तो इसका सही मापदंड क्या हो सकता है।

प्रदीप कासनी- हमारी सोसायटी अंग्रेजों के समय में और इससे भी पहले। इसे एग्रोलिटरेट सोसायटी कहते हैं। इसमें लिखने-पढ़ने का काम तो ब्राह्मण ही करते थे लेकिन उनमें ब्राह्मणवाद नहीं है ज्यादातर। जिसको हम ब्राह्मणवाद कहते हैं अपने आप को सुपीरियर मानना और केवल पैदाईश के आधार पर। केवल यह गलत बात है। वरना हमारे यहां लिखने-पढ़ने वाला तबका एक

रहा है-ब्राह्मण। लखमीचंद की लेखनी जबरदस्त चीज है। लेकिन कविता जिसे हम कहते हैं। कविता मोडर्न चीज है। लखमीचंद मोडर्न नहीं हैं। वे फोक ऐरिया में काम करने वाले जबरदस्त आदमी हैं। कवि नहीं हैं वे। कवि होंगे तो दो लाइनों में दिख जाएगी वह बात। लेकिन बहुत बड़े इंटरटेनर हैं। वह बहुत बड़ी परंपरा है आपके पास 15वीं-16वीं सदी से चली आ रही है। उस परंपरा के आप देदीप्यमान सितारे हैं। पंडित मांगे राम भी। इसमें फौजी मेहर सिंह सहित बहुत लोग रहे हैं।

यशपाल शर्मा- यदि दयाचंद माईना और धनपत को पढ़ो तो उसमें उनको इतना हाइलाइट नहीं किया गया। क्योंकि वे समकालीन हैं। मांगे राम और लखमीचंद को पढ़ो तो उसमें जाट मेहर सिंह को ज्यादा तरजीह नहीं दी गई। जाट मेहर सिंह की किताब में इनको ज्यादा तरजीह नहीं दी गई। मैं उनकी बात कर रहा था। यह जो पार्शियल्टी है, उसका मापदंड क्या है।

प्रदीप कासनी- मेहर सिंह बहुत लिमिटिड हैं। उसमें फौजी का नोस्टेल्जिया है। या बीवी से दूर हैं और अपनी रागनी गा रहे हैं, अपने बैरक में बैठे हुए। इससे बड़ा काम नहीं है। लेकिन लख्मीचंद जी की पोजिटिविटी कह लें या नेगिटिविटी कह लें। उनके जो थीम हैं या कथ्य सार है। माईथोलोजिकल भंडार है, जो हिंदुआइज है। जिसका फायदा डिवाइसिव फार्सिस ले रही हैं। वे उससे बाहर नहीं जाते और उसके प्रति क्रिटिकल नहीं हैं। वे उसका अनक्रिटिकल इस्तेमाल भर करते हैं। उस समय लोगों में जो कल्चरल डिपेंडेंसी थी या कल्चरल वैक्यूम था, उसमें वो बुरी तरह से एक्सेप्ट होते हैं। कितनी भी आप इंटरटेनमेंट की चीज ले आएं, वह कितनी भी भोथरी हो। कितनी भी रफ हो। उसे लोग हाथों हाथ लेते थे, क्योंकि लोगों में कल्चरल भूख जबरदस्त थी। आज उसको पूरा करने वाले बाजार के बहुत से साधन आ गए। आज आप बहुत बेहतर करेंगे और हो सकता है उसके लिए आपको मार्केट ना मिले।

सुरेन्द्र भारती- कौन सी संस्कृति को सहेजें? प्रवासी मजदूर आ रहे हैं हरियाणा में। पूरा सृजन तो वो ही कर रहे हैं। उनकी कल्चर उसमें है नहीं। खाप पंचायतों की कल्चर को संभालें या फिर जिनकी आवाज सुनाई नहीं दे रही, उनकी कल्चर को संभालें।

प्रदीप कासनी- जो हरियाणा में रहता है। चाहे वह दो दिन पहले यहां आया हो। वह हरियाणवी है। यह किसने बाड़ेबंदी कर रखी है। कौन ठेका लिए बैठा है कि यह कल्चर तो हरियाणवी कल्चर होगी और दूसरी कल्चर हरियाणवी कल्चर नहीं होगी। यह दृष्टिकोण आपसी बातचीत से ही तोड़ा जाएगा। आप जहां से भी हैं, वहीं से कहना शुरू करें। टूटती जाएंगी चीजें।

संस्कृति सरकारी संरक्षण का काम नहीं है। संस्कृति इंडिपेंडेंट इनिशिएटिव का काम है। वह आप लेते रहें। मेरे घर में मेरी बेटी को नहीं पता कि मैं जाट हूं। क्योंकि उनकी मां जाट नहीं है। घर में कोई जाटवाद या अन्य कोई चीज नहीं है। उनको यह भी नहीं पता कि हरियाणा की संस्कृति भी कोई चीज होती है। हालांकि वे दिन भर जो भी कुछ करते हैं वह कल्चर है। तो भी चीज आप करें। भाषा की भी कोई बंदिश नहीं है। आप अंग्रेजी में लिखना चाहते हैं तो हरियाणा में अंग्रेजी में लिखा जा सकता है। पंजाबी में लिख रहे हैं तो हरियाणवी कल्चर है। उर्दू में लिख रहे हैं तो है ही हरियाणवी कल्चर।

खापवाद 20वीं सदी की दूसरी दहाई की क्रियेशन ज्यादा है। हमारे यहां पर 1860 से पहले खाप-वाप की चर्चा सुनने में नहीं आती थी और ना थी। जमाबंदी बनने लगी जमीनों के रिकॉर्ड की। अंग्रेजों के समय में जमीन समस्या नहीं थी। उस समय काश्तकारों की कीमत होती थी, जमीनों की कीमत नहीं थी।

आज कास्टिज्म बढ़ाया जा रहा है। लेकिन यह पेराडोक्सीकली उसी पूंजीवाद में कास्टिज्म बढ़ाया जा रहा है, जो पूंजीवादी कास्टिज्म को तोड़ता है। फौरी तौर पर यह बुलबुले की तरह लगती है। बुलबुला कई बार 20-30 साल चल जाता है। एक पूरी पीढ़ी की जान ले जाता है। है यह बुलबुला। इस कास्टिज्म को देर-सवेर जाना है। हमारी कल्चरल एक्टिविटी को कास्टिज्म के खिलाफ खुलके एक्सप्रेस होना चाहिए।

संपर्क -9466220145

सुशीला बहबलपुर की कविता

अन्त मंथन

ये आबो हवा
बेचैन सी लगती है
मुझे आज
रूह हर शख्स की इस शहर में
बेदम सी लगती है
मुझे आज
लगता है खो गया है।
उसका कुछ
वह चाहता है पाना
फिर से बहुत कुछ
पर देता नहीं दिखाई
उसे कोई चिराग
अपने आस-पास
अब वह ढूंढ़ रहा है
कोई चिंगारी
अपने ही अंदर।

संपर्क - 94681-68895

खबर मिली मुझे सृजन उत्सव की

□ नफीस अहमद मुबारक

खबर मिली मुझे, और मैं उत्सव में चला आया।
सैनी जी ने कॉल कर, उत्सव से अवगत कराया।।
सृजन से कराया अवगत, मैंने राह मेवात से पकरी।
गुरु सिद्दीक मेव संग, जा पंहुचा धर्मनगरी।।

पंहुचा धर्मनगरी, मैंने पिछले उत्सव से बेहतर पाया।
देख साज–सज्जा प्रांगण की, मन फूला न समाया।।
हम फुले ने समाये, देखी पेंटिंग और चित्रकारी।
हर पहलू ध्यान से देखा, तब सुन्दरता निहारी।।

हर सजावट निहार कर, ज्यों हि आगे कदम बढाया।
कैहरबा जी ने मधुर वाणी से, स्वागत कराया।।
मधुर वाणी से स्वागत कराया, फिर पंजीकरण की राह दिखाई।
प्रपत्र भरकर हमने अपनी, उपस्थिति दर्ज कराई।।

उपस्थिति दर्ज कराकर, पंजीकरण समूह ने ख़ुशी जताई।
फिर पुस्तक प्रदर्शनी पर, अपनी नजर घुमाई।।
हमने नजर घुमाई, देखा प्रकाशन ज्ञान-विज्ञान।
गार्गी दिल्ली के नये अंक देखे, वही मौजूद था अभियान।।

प्रदर्शनी से फारिग होकर, देखा, हैं चका-चोंध सभागार।
जन उपस्थिति अनुसार, विशाल व भव्य था आकार।।
विशाल था आकार, अच्छा था बैठने का इंतजाम।
देखी टीम की कार्यशैली, सुनियोजित थे सभी काम।।

जन सैलाब उमड़ पड़ा, लेखक, रंगकर्मी, कवि और छात्र।
सृजन उत्सव का उद्घाटन, करते मिले सुरजीत पातर।।
मिले सुरजीत पातर, हमने अपना स्थान ग्रहण किया।
उनके वक्तव्य ने, सब का मन मोह लिया।।

मन मोह लिया, और साहित्य से परिचित कराये।
पातर जी ने सृजन उत्सव को, चार चाँद लगाये।।
चार चाँद लगाये, यशपाल जी ने शोभा बढ़ाई।
मंच संचालन में अविनाश सैनी ने, अपनी भूमिका बढ़ाई।।

सायंकाल में आरम्भ हुआ, जिसका था बेसब्री से इंतजार।
कवि सम्मलेन में था जोश, ठहाको से गूंज पड़ा सभागार।।
गूंज पड़ा सभागार अचानक, पसर गया सन्नाटा।
शैतानी कर बिजली भागी, कर गयी सबको टाटा-टाटा।।

कवि जनों का उत्साह न घटा, दर्जनों ने कविता सुनाई।
ज्वलंत मुद्दों पर लगभग, सभी ने अपनी कलम चलाई।।
अपनी कलम चलाई, कलम को हथियार बनाया।
'बिकी हुई कलम' का, मतलब आज समझ आया।।

आज समझ आया, स्त्री-पीड़ा का समाधान।
बेबाक कवयित्री देखी, कलाम उनका था महान।।
शोचनीय कविता उनकी, सीधा किया प्रहार।
पाखंड, जुनैद, घोटालों पर भी, बेबाक थे विचार।।

कवि सम्मलेन से फारिग होकर, कार्यक्रम आगे बढाया।
भारत विभाजन का सजीव दृश्य, कलाकारों ने कराया।।
कलाकारों ने समां बांधी, अनसुनी-अनदेखी घटना दिखाई।
'रजिया की डायरी' से, आँखे मेरी भर आई।।

विभाजन नहीं कयामत थी, गोरों ने जहर ये घोला।
'रजिया की डायरी' ने, त्रासदी का राज ये खोला।।
बेबाक राज ये खोला, रजिया की टीम थी धांसू।
देख त्रासदी विभाजन की, मेरे उमड़ पड़े आंसू।।

प्रस्तुति उपरांत महोदय ने, मण्डली का कराया परिचय।
देश को योगदान देने हेतु, किया 'मुबारक' ने निश्चय।।
किया मैंने निश्चय, कुछ कर गुजरने की ठानी।
करू अर्जित ज्ञान सुभाष जी से, गुरु सुभाष मेरे ज्ञानी।।

गुरु सुभाष मेरे ज्ञानी, संभाली उत्सव की बागडोर।
उनके कुशल नेतृत्व से, खुशहाली थी चारों और।।
उल्लास था चारों और, अच्छा किया प्रबंधन।
चाय नाश्ता संग खाकर, स्वादिष्ट लगा भोजन।।

नए गुरुजन मिले, उत्सव बना पाठशाला।
शयन – स्नान की बढ़िया सुविधा, ऐसी सैनी धर्मशाला।।
अच्छी लगी धर्मशाला , बतियाते कैहरबा संग बीती रात।
खुली आँखें ब्रह्मसरोवर चले, बजे सुबह के सात।।

समय पर कार्यक्रम आरंभ हुआ, नोनीहालों ने नब्ज टटोली।
'छोटा पैकेट बड़ा धमाका', ये थी अभिनव टोली।।
ये थी अभिनव टोली, ज्ञान की गंगा बहाई।
'बचपन एक खोज' ने, अपनी धूम मचाई।।

प्रस्तुति निरंतर थी, बिजली ने आंख दिखाई।
नन्हे कलाकरों ने, अपनी आवाज बढाई।।
अपनी आवाज बढाई, पूरा दिया संदेश।
'गुड टच – बेड टच' और, 1098 किया पेश।।

अभिनव टोली उपरान्त, कैहरबा ने मंच संभाला।
बाईज्जत कासनी जी, सिद्दीक मेव को दिया बुलावा।।
दिया अपना बुलावा, कासनी जी ने गंगा-जमुनी तहजीब बताया।
सिद्दीक मेव ने, मेवाती संस्कृति और उसका इतिहास बताया।।

'संस्कृति के विविध रंग' बाद, मंचासीन थे दुष्यंत कुमार।
मंजुल भरद्वाज के सवांद से, बदले मेरे विचार।।
बदले मेरे विचार, और 25 वर्षों का अनुभव बताया।
"क्या रहा तेरी नाटक-वाटक का", ने मंजुल को आगे बढने को उकसाया।।

सुरेन्द्रपाल की अगुवाई में, सृजन की चुनौतियों को उठा लिया।
सदस्य थे योगेन्द्र यादव, टी आर कुण्डू, आर आर फुलिया।।
आर आर फुलिया और यादव जी ने, महत्वपूर्ण बातें बताई।
सभी ने अपने वक्तव्य में, सृजन की चिंताएं जताई।।

मीठी-मीठी हवा के साथ,मिली रिमझिम बूंदों की फुहार।
प्रदर्शनी की बढ़ी मुश्किलें, सभागार में पहुंचे जाकर।।
सभागार में पहुंची स्टालें, वहीं अपनी जगह बनाई।
खुशमिजाजी मौसम ने, अब थोड़ी ली अंगड़ाई।।

ज्यों-ज्यों वक्त बीता कार्यक्रम भी, बढ़ता चला गया।
युवा दिलों की धड़कन, यशपाल जी मंच पर पहुँच गया।।
मंच पर पहुँच गया, सुनाये मीठे बोल।
श्रोता मंत्रमुग्ध हो गए, कानों में दी मिश्री घोल।।

मलखान सिंह के संवाद ने, विषय पर चिंता जताई।
'दलित जब लिखता हैं' पर, जयसिंह ने की अगुवाई।।
जयसिंह ने की अगुवाई, सभी ने रखे अपने विचार।
सब का एक ही मंथन, कैसे बेहतर हो यह संसार।।

गलत लिखे की क्षमा चाहूँ, चाहूँ सब भला की आस।
स्वर्ण अक्षरों में लिखा जायेगा, नाम डॉ. सुभाष।।
नाम डॉ. सुभाष और अपनी 'देस हरियाणा'।
'मुबारक' धर्मनगरी पर रहेगा, तेरा आना-जाना।।

कुछ भूला कुछ कर दिया, सृजन उत्सव तेरा बखान।
भ्रांतियां दूर हुई, ताजा कर दिया मेरा ज्ञान।।
बढ़ा दिया मेरा ज्ञान, 'मुबारक' कलम कू देवे विराम।
जग में अमिट रहेगा, 'देस हरियाणा' तेरा नाम।।

संपर्क - 9991519284

मेरे अनुभव में सृजन उत्सव

नीलम

गत 23 से 25 फरवरी को पहली बार मुझे किसी सृजन उत्सव में कुरुक्षेत्र जाने का मौका मिला, जिसमें अदभुत अनुभव हुए। आज मुझे बहुत खुशी हो रही है इन्हें लिखते हुए। वास्तव में यह मेरे पास सृजनकर्मियों की सृजना को समझने, गौर करने और संजाने का मौका था। इससे पूर्व मुझे ऐसे उत्सवों में शामिल होने का मौका नहीं मिला। जब सुरेन्द्रपाल सर ने कहा कि आप कितने खुशकिस्मत हो जो मात्र 16 वर्ष में ही ऐसे आयोजनों का हिस्सा बन रहे हो, फिर तो मेरा उत्साह ऊंचाईयों के आसमान में हिलोरें लेने लगा।

कुरुक्षेत्र के आदर्श विद्यालय की तरह वहां पर उपस्थित हर सृजनकर्मी भी कम आदर्श नहीं थे। जब वे अपनी रचना सुनाते तो दर्शक व श्रोतागण के साथ-साथ कक्ष की दीवारें भी कह उठतीं- वाह, बहुत खूब।

मेरे पास सृजनात्मकता को बयान करने के लिए शब्द नहीं हैं। राष्ट्रीय सम्मेलन में कवियों का उत्साह बहुत बढ़ा हुआ था। हर कवि अपनी रचनाओं को जी भर कर सुनाना चाहता था, लेकिन जब मंच संचालक उन्हें समय का ध्यान रखने की हिदायत देते, तो मुझे बहुत दुख होता। आखिर कवियों के पास यही अवसर तो था, जब वे सत्ता को चुनौती देते थे। लेकिन समय की बंदिश ने उसे मायूस कर दिया।

हर कवि दूसरे कवि की रचना उतने ही रोमांच के साथ सुन रहा था, जितना उसे अपनी कविता कहने का उत्साह था। हरियाणा सृजन उत्सव में की गई सृजना किसानों की समस्याओं से लेकर सिनेमा जगत तक थी। सृजन उत्सव में पधारी हर हस्ती एक से बढ़ कर एक थी। जहां निंदर घुघियाणवी के इकतारे ने सभी को मंत्रमुग्ध कर दिया। वहीं नाटक मंडली द्वारा मंचित अंधेर नगरी ने सबका मन मोह लिया। समापन सत्र ने सभी को सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि आखिर हमारा समाज कहां जा रहा है। आशा है हरियाणा सृजन उत्सव की टीम आगे भी ऐसे ही कार्यक्रम आयोजित करती रहेगी।

बुत गूंगे नहीं होते - समीक्षा गोष्ठी

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग के सभागार में 'देस हरियाणा' की तरफ वरिष्ठ कवि ओम प्रकाश करुणेश के हाल ही में प्रकाशित हुए काव्य संग्रह 'बुत गूंगे नहीं होते' पर समीक्षा गोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी में युवा समीक्षक वैभव सिंह ने काव्य संग्रह की विभिन्न कविताओं का जिक्र करते हुए अनेक पहलुओं पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम की अध्यक्षता सामाजिक चिंतक डॉ. टीआर कुंडू ने की और संचालन 'देस हरियाणा' के संपादक एवं विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर डॉ. सुभाष चन्द्र ने किया। संगोष्ठी में काव्य संग्रह की कविताओं को पढ़ा गया और उन पर चचाऱ् की गई। संगोष्ठी की शुरूआत करते हुए ओमप्रकाश करुणेश ने अपने अनुभवों और रचना प्रक्रिया पर चर्चा की।

वैभव सिंह ने कहा कि कविता लिखना एक मुश्किल काम है। कविता एक सार्थक वक्तव्य होती है। ओमप्रकाश करूणेश इसमें सफल हुए हैं। करुणेश जी की कविताएं पढ़ते हुए उन्हें निराला, मुक्तिबोध, धूमिल व नागार्जुन की याद आई। उनके काव्य-संग्रह के आधार पर कहा जा सकता है कि करुणेश जी उन्हीं की परंपरा के कवि हैं। करुणेश जी की कविता में लोकतंत्र की चिंता है। झूठ से लडऩे की चिंता है। समाज में बढ़ती जा रही गैरबराबरी से मनुष्यता का ऐतिहासिक संघर्ष व्यक्त करने की चिंताएं हैं। उनकी कविताएं आंदोलनों से अर्जित सामाजिक चेतना को कलात्मक रूप से व्यक्त करती हैं। कवि की कशमकश यही है कि किस तरह से सार्थक और कलात्मक वक्तव्य गढ़ा जाए। करुणेश जी की कविता में बहिर्मुखता बहुत ही लाउड है। उनकी कविता में अपने समाज के प्रति खास तरह की ईमानदारी और जिम्मेदारी का भाव है। उनकी कविता में नाम के अनुरूप ही करुणा का तत्व मौजूद है। यह करुणा पूरी तरह वास्तविक है। करुणेश जी की कविताएं आलोचक के रूप में हमारे सामने आती हैं।

डॉ. सुभाष चन्द्र ने कहा कि करुणेश जी की कविताएं नागरिक बनाने की परियोजना के हिस्से के तौर पर अपना दायित्व निभा रही हैं। करुणेश जी की कविताओं में भाषा का छल नहीं है, जिससे पाठक फिसल जाएगा। वे खुरदरे अनुभवों का अहसास करवाएंगी, जोकि हमें अपने साथ ले जाएंगी। कविता की आंतरिक रूप की बनावट में विविधता है। प्रो. टी. आर. कुंडू ने कहा कि हर एक सृजनकार को अपने समय के सवालों से जूझना पड़ता है। उसे तय करना होता है कि क्या कहना है और कैसे कहना है। उन्होंने कहा कि करुणेश जी का परिप्रेक्ष्य बहुत व्यापक है। वे जनपक्षधरता के कवि हैं। उनकी कविताओं में उनकी प्रतिबद्धता और ईमानदारी मुखर होकर सामने आती है।

काव्य संगह पर वरिष्ठ रचनाकार राम कुमार आत्रेय, डॉ. कृष्ण कुमार, डॉ. कुलदीप सिंह, बृजेश कठिल, रविन्द्र गासो, डॉ. अशोक भाटिया, ओम सिंह अशफाक, प्रदीप सिंगला, रविन्द्र कुमार, मेवात से आए नफीस अहमद, राजेश कासनिया, इकबाल, रानी, प्रदीप मानव, सुनील थुआ सहित अनेक रचनाकारों एवं शोधार्थियों ने भी करुणेश जी की कविताओं पर चर्चा की।

ओम प्रकाश करुणेश

हमें लिखो

स्याह न हो
आने वाले दिन
कवि ! इन दिनों के बारे में जरूर लिखो

सबको मिले न्याय
और सब हो अलहादकारी
भेदभाव मिटे, कवि कुछ ऐसा लिखो

कुछ इस तरह गुनगुनाओ
कि होठों में ही दबी न रह जाए
मजलूमों की आवाज

गाओ अब इनके झमेले
कवि अब ऐसे गीत सुनाओ
तुफां उठे दिलों में हमारे
आंखों से खूं के आसूं बरसाओ
ये जुल्म करने वाले बदलें
न रहे इस धरा पर
मनुष्यता का ऐसा गीत सुनाओ

कवि कुछ ऐसा लिखो
कि आंख हमारी खुल जाएं।

गाम के पान्ने

गांव-मुहल्ले, कस्बे-शहर
अगड़-बगड़ में बसी मरोड़
पड़ोस के तान्ने, पास के पान्ने
बसे सरिक्के-कुणबे होड़
जलण में फुकते, राख फांकते
धूल उड़ाते, गोहर टेढ़े
घास-फूंस न्यार ने जारी
घर की रोणक नारी
सब कुछ सहती
यह घर का गहना
गम आए तो दुखों में बहना
दोष मढ़ें हम उस पे भारी
कस्बे शहर, गाम-मुहल्ले
उजले होते इनसे सारे।

हरियाणा सृजन उत्सव - सांस्कृतिक कर्मियों ने बिखेरे रंग

□ कपिल बतरा

पेंटिंग व पोस्टर मेकिंग स्पर्धा 23 फरवरी 2018 को हरियाणा सृजन उत्सव-2 के पहले दिन सुबह के सत्र में 'देस हरियाणा, बदलता हरियाणा' विषय पर पेंटिंग व पोस्टर मेकिंग स्पर्धा आयोजित की गई। इस स्पर्धा में प्रदेश के विभिन्न हिस्सों से स्कूली बच्चों से लेकर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों के साथ-साथ स्वतंत्र चित्रकार भाग लेने पहुँचे थे। नवोदित चित्रकारों और कलाकारों ने 'हरियाणा की प्राकृतिक छटा व हरियाली', 'लहलहाते खेत' 'किसानों की स्थिति', 'सामाजिक कुरीतियां', 'हरियाणवी संस्कृति', 'जन–जीवन', 'डिजिटल होता हरियाणा', 'विश्व विजेता सुन्दरी मानुषी छिल्लर', 'नारी सशक्तिकरण', 'शिक्षित नारी-समृद्ध नारी', 'साक्षरता अभियान', 'बढ़ता लिंगानुपात', 'बेटी बचाओ-बेटी पढ़ाओ', 'घूँघट छोड़ों-दुनिया देखो' 'बदलता हरियाणा', 'हमारे पहलवानों को दम-ख़म', 'खिलाड़ियों की प्रतिभा', 'कल्चर और एग्रीकल्चर के बीच संतुलन' आदि विषयों को अपनी चित्रकारी के ज़रिए दर्शाया। रोहतक के गाँधी स्कूल (सेक्टर-4 के पार्क में खुले में लगता है) से फ़िज़ा (10 वर्षीय), बबिता(10), शिवानी (11), जितेन्द्र(13), सकरुद्दीन(13), क्रांति (13) व इनके शिक्षक विजय(25) ने अपनी प्रतिभा दिखाई।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के ललित कला विभाग से आये विद्यार्थियों में पूर्वा, विक्रांत, सीता, मोहन, प्रतिमा, सोनू, अंशिका, सोनिका, हार्दिक, भावना, अनामिका, अभिषेक, शुभम, साक्षी, नेहा, निखिल, साक्षी व गार्गी प्रकाशन दिल्ली से स्वाति ने भी इस प्रतिस्पर्धा में भाग लिया। प्रथम स्थान पर कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के ललित कला विभाग के छात्र रणजीत सिंह ने, द्वितीय स्थान पर इसी विभाग से छात्र सोनू गहलावत व तृतीय स्थान पर अनूप ने प्राप्त किया। वहीं, प्रोत्साहन पुरुस्कार स्नेहा पटेल, गणेश कुमार व कर्तव्य को मिला।

"मेरी रचना यात्रा" कार्यक्रम में लेखक निंदर घुगियाणवी ने अपनी ज़िन्दगी के रचनात्मक अनुभव सांझा किये। उन्होंने 49 किताबें लिखी हैं। सबसे अधिक लोकप्रियता उनकी किताब "मैं था जज का अर्दली" से हासिल हुई। उन्होंने अपने उस्ताद श्री लालचंद यमला जट को याद करके तुम्बी पर गीतों की प्रस्तुति दी। सोहनी-महिवाल के किस्से पर भी गीत सुनाया।

नाट्य प्रस्तुतियां - एक्शन थिएटर ग्रुप, रोहतक द्वारा नाटक "आत्मकथा'' का मंचन किया गया। इस नाटक में कलाकारों ने महिला किसानों की जीवन की व्यथा को दर्शाया। नाटक के लेखक व निर्देशक दुष्यंत कुमार ने बताया कि हमारे समाज में महिला किसानों के श्रम को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है। वे पुरुष प्रधान समाज में अपनी बात तक नहीं कह पाती। 'आत्मकथा' नाटक में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि "जब भी महिला किसानों के श्रम की क़ीमत लगाई जायेगी उस दिन इतिहास की सबसे बड़ी चोरी पकड़ी जाएगी। नाटक का उद्देश्य महिलाओं को उनकी मेहनत का श्रेय दिलाना है। मुनाफ़ा दुष्यंत कुमार का कहना था कि इस दुनिया की ज़मीन पर आधी आबादी महिला वर्ग है जो दिन-रात मेहनत करती है लेकिन इसी ज़मीन पर उसका मालिकाना हक महज 3 से 4 प्रतिशत ही है। वहीं, नाटक किसानों की आत्महत्या के मुद्दे को भी उठाता है। किसानों को अपने उत्पादों का तीन गुना क़ीमत भी नहीं मिल पाती जबकि मुनाफ़ाखोर तीस गुना मुनाफ़ा खा रहे हैं। नाटक की परिकल्पना, संगीत व प्रकाश व्यवस्था निर्देशक दुष्यंत कुमार द्वारा की गई। नाटक में सुरेन्द्र, ज्ञानेश, मनीषा व दीपा ने अभिनय किया।

जन नाट्य मंच, कुरुक्षेत्र की टीम द्वारा "रज़िया की डायरी" नाटक का मंचन किया गया। नाटक के ज़रिए कलाकारों ने भारत के बंटवारे के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता और भाईचारे को दर्शाया। नाटक का निर्देशन अमित कुमार ने किया।

त्यागी आर्ट ग्रुप – त्यागी आर्ट ग्रुप ने *अंधेर नगरी, चौपट राजा* नाटक का मंचन किया जिसमें वर्तमान संदर्भो को जोड़ते हुए सामाजिक कुरीतियों व बाबाओं पर तीखे कटाक्ष किए और दर्शकों का मन मोह लिया। त्यागी आर्ट ग्रुप के सृजनकर्मियों व कलाकारों ने गीत व लोकगीतों के जरिये सांस्कृतिक उर्जा का संचार किया।

पथ सोसायटी – रोहतक के बाल कलाकारों ने कठपुतलियों के जरिये अपनी गंभीर प्रस्तुति के माध्यम से सामाजिक पर्यावरण के प्रति लोगों को जागरुक किया।

सृजन यात्रा - 24 फरवरी को सुबह सैनी धर्मशाला से सृजन यात्रा निकली गई। इस यात्रा में हरियाणा व अन्य प्रदेशों से आये सृजनकर्मी शामिल हुए। सृजनकर्मियों ने सृजन यात्रा के माध्यम से रचनात्मक व सृजनात्मक दृष्टिकोण अपनाने का सन्देश दिया।

रागनी गायन - नवोदित लोक कलाकार गीता सिंह ने रागनी प्रस्तुत की। उनकी गायी रागनी "भगत सिंह कदे तेरा जी घबरा ज्या बंद मकान मैं" ने दर्शकों भगत सिंह व उनके साथियों के त्याग और बलिदान की याद दिलाई। अविनाश ने "जुगनी..." गीत की प्रस्तुति दी। मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली की ग़ज़ल भी कार्यक्रम के दौरान सुनाई गई।

प्रदर्शनियां - सृजन उत्सव के दौरान विभिन्न संस्थाओं द्वारा फ़ोटो प्रदर्शनी भी लगाई गई। इस अवसर पर आयोजित पुस्तक मेले में 'हरियाणा विज्ञान मंच', 'जन चेतना प्रकाशन', 'अभियान पत्रिका', 'रेतपथ', 'पत्रिका, गार्गी प्रकाशन' (दिल्ली) की ओर से बुक स्टाल लगाये गये।

संपर्क– 81682-79127

मनजीत भोला की रागनी

फेसबुक पै फ्रेंड पाँच सौ

फ़ेसबुक पै फ्रेंड पांच सौ पड़ोसी तै मुलाकात नहीं
तकनीक नई यो नया जमाना रही पहलड़ी बात नहीं

व्ट्स एप पै ग्रुप बणा लिए ना दीखै टोळी यारां की
दूर- दूर तक चलती चैटिंग खबर ना रिश्तेदारां की
पतळी हालत होरी सोशल मिडिया के मारयां की
लाइक ना मिलै तै माँ सी मरज्या सै बिचारयां की
बिना काम की टैंशन ले रहे कटै चैन तै रात नहीं
तकनीक नई यो नया जमाना रही पहलड़ी बात नहीं

पड़े खाट में फ़िक्र करैं सैं शहीदां के सम्मान की
कॉपी करकै पेस्ट करो इब नहीं ज़रूरत ज्ञान की
इस तै बड्डी बात और के होगी रै न्यूक्सान की
अनपढ़ माणस करैं समीक्षा भारत के संविधान की
बणे फिरैं पंचाती घर में बोलण की औकात नहीं
तकनीक नई यो नया जमाना रही पहलड़ी बात नहीं

फेक आई डी पिछाण होवै ना जनाना के मर्दाना के
एंजल प्रिय बनके रामफळ स्वाद ले मिस तान्या के
कोए कहवै सै लेल्यो जीसे इसमें सै हरजाना के
गामां में भी इसे बाळक रै देखे मनै किसानां के
जिम जॉइन कर रे सैं वैं खेतां में करैं खुभात नहीं
तकनीक नई यो नया जमाना रही पहलड़ी बात नहीं

अपणा आपा बड़े जतन तै आपै खुद ल्हकोरे सैं
नकली माणस नकलिपण में राजी हो कै खोरे सैं
घर में मूसे कुला करैं पर इनके अलग डिठोरे सैं
ॐ भी सुर में बोल ना सकते वैं भी सिंगर होरे सैं
मनजीत भोळा गीत किसा वो जिसमें हों जज्बात नहीं
तकनीक नई यो नया जमाना रही पहलड़ी बात नहीं

मंदिर मस्ज़िद ना लड़ते

मंदिर मस्ज़िद ना लड़ते थारा आपस में क्यूँ पंगा रै
शर्मसार मत करो मनै न्यू कहरया सै तिरंगा रै

कोए भगमा को लीला लेरया हरा किसेके हाथ में
न्यारे न्यारे ठा लीए झंडे आकै नै जजबात में
प्यार की ठंडक चाहिए सै इस गरमी के हालात में
बाशिंदे सब सो भारत के बंटो ना मजहब जात में
चाल सियासत की समझो तै किते होवै ना दंगा रै
शर्मसार मत करो मनै न्यू कहरया सै तिरंगा रै

ठेके पै जाकै कुणसे धर्म की लिया करो शराब कहो
जरूत खून की पड़ै तै कुणसा अच्छा अर खराब कहो
सबनै दे परकास एकसा किसका सै आफ़ताब कहो
देवै चाँदणी बराबर सबनै किसका सै माहताब कहो
किसतै नफरत करती देखी बताओ जमना गंगा रै
शर्मसार मत करो मनै न्यू कहरया सै तिरंगा रै

सींग उलझते कदे ना देखे गीता और कुरान के
श्री कृष्ण पै पढ़े सवैये मनै लिखे हुए रसखान के
असल बातपै बंदक्यूं होज्यां ताले थारी जबान के
मुद्दे ठाणे सैं तै ठाओ मजदूर और किसान के
लाणा सै तै विकास पै लाओ जीतणा सै यो हँगा रै
शर्मसार मत करो मनै न्यू कहरया सै तिरंगा रै

जो भड़कावै उसतै उसके परिवार की बात करो
माणस जै हो सरकारी तै सरकार की बात करो
संविधान नै जो दिया उस अधिकार की बात करो
नई उम्र तै नम्र निवेदन रोज़गार की बात करो
मनजीत भोळा जोश में भरकै ना काम करो बेढंगा रै
शर्मसार मत करो मनै न्यू कहरया सै तिरंगा रै

संपर्क- 9034080315

देस हरियाणा के संरक्षक सदस्य

1. डा. सुभाष चंद्र
2. प्रो. टीआर कुंडू
2. श्रीमती विपुला
3. डा.अमित मनोज
4. डा. सुनील रावल,पानीपत
5. डा. कृष्ण कुमार
6. डा. अशोक चौहान
7. डा. हेमलता शर्मा
8. प्रो. सुनील कुमार
9. अमन वाशिष्ठ
10. अरूण कैहरबा
11. सुनील कुमार थुआ
12. इकबाल सिंह
13. डा. विजय विद्यार्थी
14. विकास साल्याण
15. डा.रविन्द्र गासो
16. डा.ओम प्रकाश करूणेश
17. डा.राजवीर पराशर
18. डा. जय सिंह
19. इंद्र सिंगला
20. सुरेंद्र पाल सिंह
21. सतबीर सिरोही
22. जितेंद्र गोस्वामी
23. आशावंत
24. पूनम यादव
25. यशपाल शर्मा
26. जयपाल
27. डा. रणबीर सिंह दहिया
28. आरआर फूलिया
29. अशोक गर्ग
30. राजेश कासनिया

देस हरियाणा के आजीवन सदस्य

1. डा. जसवीर सिंह जस्सी
2. सतप्रकाश सैनी
3. विकास सभरवाल
4. सुमेर सिंह
5. बी एस मलिक
6. राजेंद्र सिंह
7. मोनिका भारद्वाज
8. सुनिता धारीवाल
9. रमणीक मोहन
10. बलबीर सिंह मलिक
11. सुनील दत
12. गीता पाल
13. दयालचंद जास्ट

देस हरियाणा प्राप्त करने के लिए संपर्क करें

कुरुक्षेत्र	-	विकास साल्याण	9991878352
	-	ओमप्रकाश करुणेश	9255107001
यमुनानगर	-	ब्रह्मदत्त शर्मा	9416955476
	-	बी मदन मोहन	9416226930
अंबाला शहर	-	जयपाल	9466610508
करनाल	-	अरुण कैहरबा	9466220145
इंद्री	-	दयालचंद जास्ट	9466220146
घरौंडा	-	राधेश्याम भारतीय	9315382236
	-	नरेश सैनी	9896207547
कैथल	-	प्रेमचन्द सैनी	9729883662
सफीदों	-	बहादुर सिंह 'अदिल'	9416855973
जीन्द	-	राम मेहर खरब	9416644812
	-	मंगतराम शास्त्री	9516513872
टोहाना	-	बलवान सिंह	9466480812
नरवाना	-	सुरेश कुमार	9416232339
सोनीपत	-	विरेंद्र वीरू	9467668743
पानीपत	-	दीपचंद निर्मोही	9813632105
पंचकूला	-	सुरेंद्र पाल सिंह	9872890401
	-	जगदीश चन्द्र	9316120057
फतेहाबाद	-	पवन सागर	9996040307
रोहतक	-	अविनाश सैनी	9416233992
	-	अमन वासिष्ठ	9729482329
सिरसा	-	परमानंद शास्त्री	9416921622
	-	राजेश कासनिया	9468183394
गुडगांव	-	जगदीप सिंह	9416154057
	-	अशोक गर्ग	9996599922
हिसार	-	राजकुमार जांगड़ा	9416509374
	-	ऋषिकेश राजली	9467024104
महेन्द्रगढ़	-	अमित मनोज	9416907290
मेवात	-	नफीस अहमद	7082290222
चंडीगढ़	-	ब्रजपाल	9996460447
	-	पंजाब बुक सेंटर, सैक्टर 22	
दिल्ली	-	सजना तिवारी , नजदीक श्रीराम सेंटर,	
	-	आरके मैगजीन , मौरिस नगर, थाने के सामने	
	-	एनएसडी बुक शॉप	
ई-प्राप्ति	-	www.notnul.com/desharyana	